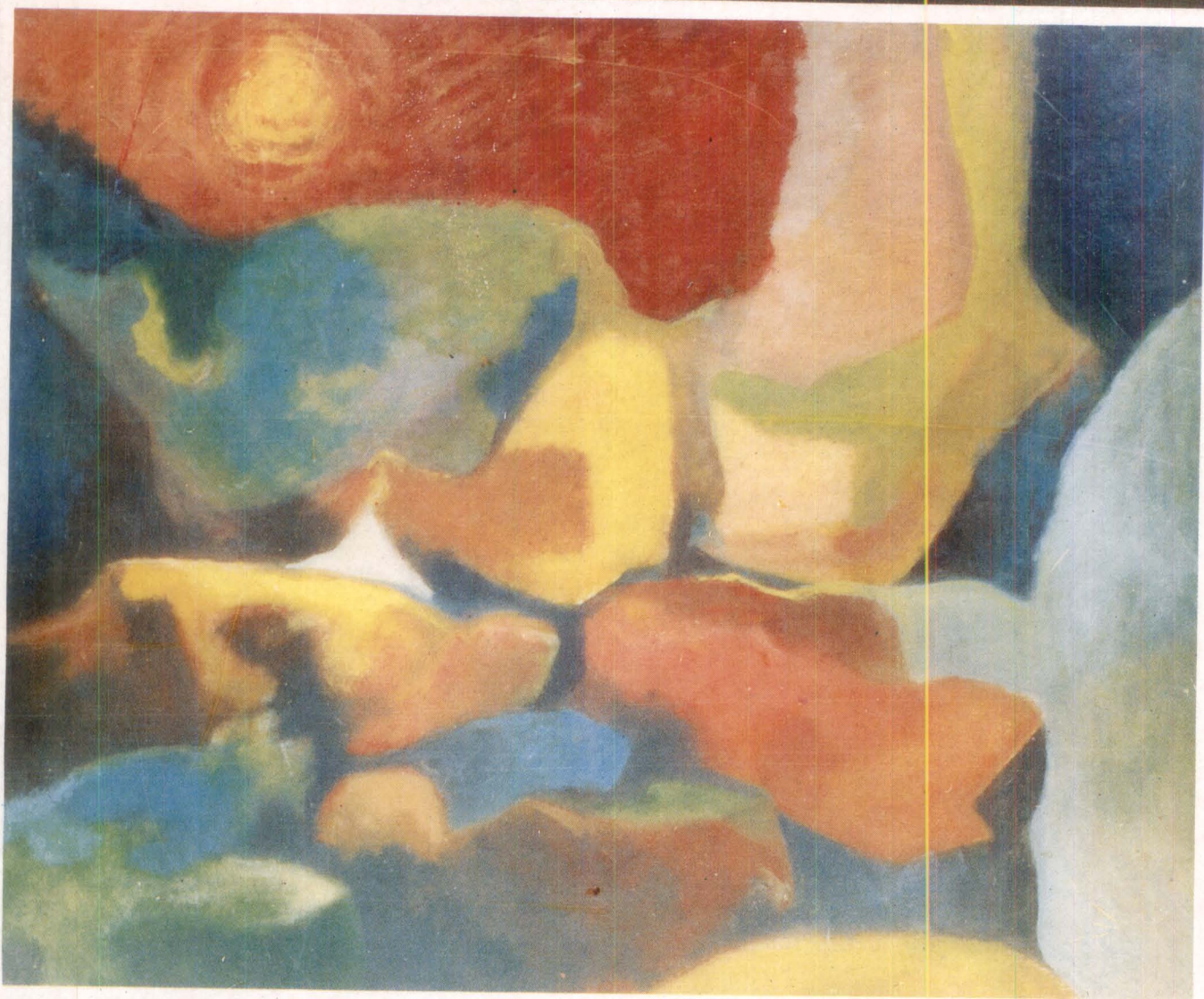


दिसंबर, 1999

सात रुपये

आजकल

साहित्य एवं संस्कृति का मासिक



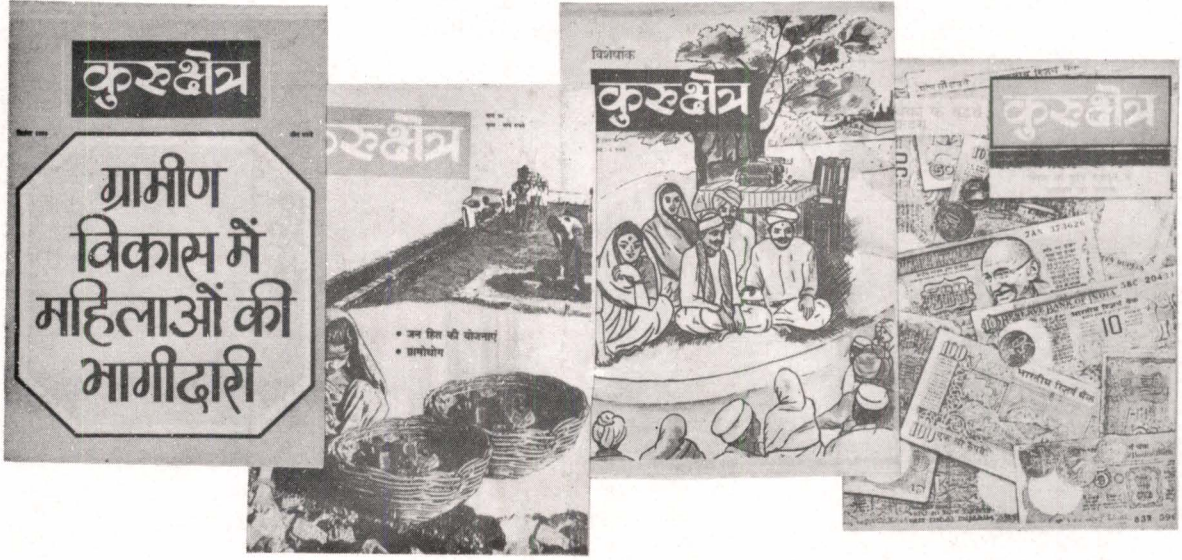
- वर्तमान का संकट और भविष्य की आशंका : नीलिमा सिन्हा □ रचना के बहाने : से.रा. यात्री
- पत्रकारिता का सच और उपन्यास : कविता □ भारतीय संगीत का जीवन दर्शन :
शैल कुमारी तथा अश्विनी कुमार सिंह □ कहा तकल्लुफ जानै : देवेंद्र शर्मा 'इंद'
- द्रोणवीर कोहली तथा सुमतींद्र नाडिंग की कहानियां
साथ में श्रीरंग तथा शरद कोकास की कविताएं

प्रतियोगी परीक्षाओं में बैठने वालों के लिए उपयोगी पत्रिका



कुरुक्षेत्र

(ग्रामीण विकास की प्रमुख मासिक पत्रिका)



कुरुक्षेत्र ग्रामीण विकास को समर्पित एकमात्र पत्रिका है, जिसकी सामग्री खास तौर से सिविल सेवा परीक्षाओं को ध्यान में रख कर तैयार की जाती है।

कुरुक्षेत्र में प्रतिष्ठित विद्वानों और विशेषज्ञों की ग्रामीण विकास के विविध पक्षों से जुड़ी तथ्यपूर्ण रचनाएं प्रकाशित की जाती हैं।

अपने समाचार विक्रेता से लें या फिर ग्राहक बनने के लिए हमें लिखें

चंदे की दरें : वार्षिक ☐ एक वर्ष : 70 रु. द्विवार्षिक ☐ दो वर्ष : 135 रु. त्रिवार्षिक : ☐ तीन वर्ष : 195 रु.

डिमांड ड्राफ्ट/ पोस्टल ऑर्डर/ मनीऑर्डर इस पते पर भेजें :

सहायक व्यापार व्यवस्थापक (प्रसार), प्रकाशन विभाग (पत्रिका एकाश),

ईस्ट ब्लॉक-IV, लेवल-VII, रामकृष्णपुरम, नई दिल्ली-110066

इन स्थानों पर भी उपलब्ध है :



विक्रय केंद्र : प्रकाशन विभाग

पटियाला हाउस, तिलक मार्ग, नई दिल्ली; सुपर बाजार, कनॉट सर्कस, नई दिल्ली, राजाजी भवन, बेसेंट नगर, चेन्नई, 8, एस्प्लेनेड ईस्ट, कलकत्ता, बिहार राज्य सहकारी बैंक बिल्डिंग, अशोक राजपथ, पटना; प्रेस रोड, तिरुअनंतपुरम, 27/6, राममोहन राय मार्ग, लखनऊ, कॉमर्स हाउस, करीमभाई रोड, बालॉर्ड पायर, मुंबई; राज्य पुरातत्वीय संग्रहालय बिल्डिंग, पब्लिक गार्ड्स, हैदराबाद, पहली मजिल, एफ विंग, केंद्रीय सदन, कोरामंगला, बंगलौर

बिक्री काउंटर : पत्र सूचना कार्यालय

सी. जी. ओ. कॉम्प्लेक्स, ए विंग, ए. बी. रोड, इंदौर 80, मालवीय नगर, भोपाल, बी-7, भवानी सिंह मार्ग, जयपुर (राजस्थान)

बची मैं अनपढ़ गंवार...जरखरीद बांदी।'

लेखिका ने यौन संबंधों को लेकर भी अनेक समस्याएं उठाई हैं : 'समझने की कोशिश क्यों नहीं करती तुम अंकित को...उनकी बेटी हो।' 'की' 'फिर?' 'नहीं समझते, समझोगे भी नहीं पूछा भी नहीं हमने कि मिट्टी का तेल देह पर आई' ने क्यों उड़ेला? इसलिए कि वह राक्षस शराबी है? 'शराबी तो बहुत होते हैं उनके घरों की ऊबी बीवियां तो अपनी देह पर मिट्टी का तेल उड़ेल आग लगाने की नहीं है सोचती, नमी? शराब से हम सब लड़ाई करते हैं, शैतान से नहीं। तुमसे क्या छिपाऊं ताई राक्षस के साथ अकेली रहने से डरती है।' अविश्वास से वह अवसन हो आई पिता के लिए कोई पुत्री देह हो सकती है? महिलाओं की दशा का चित्रण बड़ी गहराई के साथ किया गया है।

यथार्थ को लेखिका ने बड़ी पैनी नजर से देखा है : 'मंथर गति से वह 4 नं. टी स्टाल की बगल में खड़ी महिलाओं के समूह की ओर बढ़ी। मोटी नाटी औसत दरमियाना देह यष्टि वाली मिडी स्कर्ट सलवार-कमीज और पूनम की गार्डन, सीधे-उलटे पल्ले की साड़ियों में लिपटी तोंदी तक मंगलसूत्र लटकाए जूड़े चोटियों में वेटी गजरे खोंसे अपने दर्जे की महिलाओं को पहचानने में उसे मुश्किल नहीं हुई। हलकी-सी राहत भीतर सुरसुराई।'

उपन्यास के महिला पात्र बहुत साहसी और जीवंत हैं। मुश्किलें पड़ने पर वे उनका मुकाबला करने के लिए तत्पर रहती हैं। मां की ममता कितनी महान होती है चाहे वह क्वारी मां ही क्यों न हो- 'किसोरी भौजी को छठे महीने पता चला कि सुनंदिया पेट से है। कौन किया इससे जबर्द, लाख धौंसियाने पर उस गुरू ने मुंह नहीं खोला... 500 रुपये पर डाक्टर जोखिम उठाकर पेट गिराने को राजी हो गई। मगर ऐन मौक पर सुनंदा ऐंठ गई- 'बच्चा नहीं गिराएंगे अपनी जांगर पालेंगे।' भौजी ने उसके तेवर देखे तो शांत हो चुपा गई। सुनंदा बेखटके काम पर आने-जान लगी। एक दिन आरिफ भाई का बेटा सुहेल आया। सुहेल ने कबूला, सुनंदा के पेट में उसी का बच्चा है। सुनंदा से विवाह करने के लिए उसने घर वालों को राजी कर लिया है। अब्बू की एक ही शर्त है कि सुनंदा को इस्लाम कबूल कर अपना नाम बदलना होगा। ब्याह उनकी ही रीति से होगा। निरुपाय किशोरी भौजी ने हम सबसे परामर्श किया। हम सब एकमत हुए। राख डालो जाति धर्म पर चुपचाप, ब्याह दो सुहेल से। सुना है, सुहेल की नौकरी दुबई में लग गई। आगे-पीछे सुनंदिया भी संग दुबई हो लेगी। टंटा खत्म। सुनंदा इस विवाह के लिए तैयार नहीं हुई। सुनते ही बिदक गई। धर्म बदलकर विवाह करना उसे मंजूर नहीं। प्रेम में धर्म आड़े नहीं आता तो शादी में क्यों आता है। सुनंदा अपनी बात पर दृढ़ रही। सातवें महीने उसने एक बेटी को जन्म दिया और उसने वे सारी सुविधाएं अपने लिए मांगीं जो जचगी, काम करने वाली महिला को दी जाती हैं। उसका तर्क था कि 'देखिए, दीदी, सुविधा का प्रावधान था गर्भवती स्त्री और उसके बच्चे को लेकर न कि क्वारी मां या ब्याहता विशेषणों के लिए। क्वारी मां क्या ब्याहता मां के समान जचगी के घोर कष्टों से नहीं गुजरती? उसे आराम की जरूरत नहीं होती? मां बनना किसी के निजी मामले के बजाए कंपनी का मामला कैसे हो गया?' सुनंदा का स्वर आक्रोश से थर्राया। 'साहस जुटाया, 'स्वयं की जचगी के संदर्भ में एक प्रार्थना पत्र तैयार कर सातवां महीना लगते ही पर्सनल डिपार्टमेंट में फंसवा दिया मैंने मां से छिपाकर-फिर मैं आत्म-निर्भर हूं, दीदी

अपनी बच्ची की परवरिश स्वयं कर सकने में समर्थ हूं। मेरा मातृत्व ब्याह के दुच्चे प्रमाण का मोहताज नहीं। असुविधा है तो मात्र इतनी कि मां स्वयं काम पर जाएगी या मेरी बच्चे की देखभाल करेगी। कंपनी से सुविधा मिलते ही बच्चे को मैं निश्चित हो अपने साथ ले जा सकूंगी।'

क्वारी मां होने की समस्या आज की ज्वलंत समस्या है। इस समस्या को लेखिका ने बड़े सहज ढंग से उभारा है : 'सुहेल ने प्रेम करने के समय तो कोई शर्त नहीं रखी कि ब्याह करा होगा तो मुझसे नहीं इस्लाम से करना होगा या मुझे हिंदुत्व से। स्पष्ट कहा था मैंने...मां को मना लूंगी। चलो हम कोर्ट मैरिज कर लें। दोनों ओर के आडंबर से मुक्त। माना नहीं। जो शर्त पहले शर्त नहीं थी बाद में क्यों शर्त बनी। समझौते को मैं भी राजी नहीं हुई। मुझे लगा, दीदी, समझौते का 'आदि' है और 'अंत' नहीं है, इस नारी पात्र में कितना विवेक है! कितना साहस है और कितना आत्मसम्मान!

ऐसे अधिकांश नारी पात्र इस उपन्यास में हैं जो नारी संबंधी अनेक समस्याओं से जूझते हैं, लड़ते और मुकाबला करते हैं लेकिन हार नहीं मानते। औरत का क्रांतिकारी होना पुरुष को बरदाश्त नहीं होता। उसे तो नारी दुर्बल, सिमटी-सिमटाई, पराधीन ही अच्छी लगती है। जहां किसी नारी ने साहस दिखाया वहीं पुरुष के तेवर बिगड़े। आत्मनिर्भर होने की परिभाषा है स्वयं की बुद्धि विवेक का उपयोग न कि पुरुष के समक्ष आर्थिक सक्षमता। 'गड़बड़ यहीं से शुरू हुई।' चश्मे में पवार की आंखें तीखी हुई। स्वालंबन ने स्त्री को संरक्षण की आवश्यकता से मुक्त कर दिया। पति की जगह उसे एक अदद कठपुतली नौकर की जरूरत भर शेष रह गई जो उसे आटे, दाल के जंजाल से मुक्त रखे। उसकी स्वच्छंदता को कोसे गूंगे दर्शक सा। 'पुरुषों के बीच बैठकर उसे उनकी अशीलनता को सहन करने की कुव्वत पैदा करनी होगी। अपने बीच औरत की उपस्थिति की उन्हें आदत नहीं है। है भी तो कम है और वह आदत हस्तक्षेप से ही संभव है।'

पुरुषों के अशीलीन व्यवहार की चर्चा इस उपन्यास में जगह-जगह की गई है। पुरुषों की दृष्टि में औरत केवल औरत है। वे उसका शोषण पूरी तरह करना चाहते हैं और उनकी इज्जत पुरुषों के लिए नहीं होती। अपने पिता के मित्र अन्ना साहब के दुर्व्यहार की वजह से उसने नौकरी छोड़ दी थी और उस संस्था को भी छोड़ दिया था किंतु जब उसे पता लगा कि उसके पिता ने ब्याहता किशोरी बाई के संग अनुचित संबंध रखे तो उसने सोचा 'बाबूजी ने भी अन्ना साहब की भांति दुष्कर्म किया होगा कि अपने सुहाग की ओट ले वह दुष्कर्म की परिणति भुगतने को बाध्य हुई? मगर बाबूजी के प्रति उस जैसी स्वाभिमानी स्त्री बरसों-बरस जीत जाने के बावजूद कोमल भाव कैसे रख सकती है। अन्ना साहब मेरे प्रति उस सीमा तक वरुशी नहीं हुए, क्या फिर भी मैं उन्हें जीवन में कभी सहज भाव से ले पाऊंगी? मानसिक बलात्कार की जघन्यता से स्वयं को उबार सकूंगी?'

यहां लेखिका ने एक मनोवैज्ञानिक तथ्य पर भी प्रकाश डाला है। वे मनोवैज्ञानिक तथ्य कोमल भावों के खने में निहित हैं। नमिता को इस घटना से बहुत दुख होता है जब वह यह ज नती है कि सुनंदा उसकी सगी बहन थी। उसका मोहभंग बार-बार होता है। जिन पात्रों को वह आदर्श पात्र समझती है वही पात्र उसके सामने बहुत सारी जलालतों को लेकर सामने आते हैं। जिस मैडम को वह मसीहा समझती है जो उसे 3500 रुपये की नौकरी देती है वहां

हुए नजर आते हैं। उपमान अलंकार का प्रयोग अनेक स्थलों पर हुआ है। लेकिन यह उपमान काव्यशास्त्र के परंपरागत उपमान न होकर मौलिक और अपने आप में अनूठे यथार्थवादी उपमान हैं। उदाहरण के लिए 'उसकी ओरी चुस्ती फुरती सहसा ढेले खाई अँमिया-सी टपकी' और 'मैडम कारून के खजाने सा दृश्य अनायास हाथ आई अत्मीयता के वहन करने में सर्वथा असमर्थ-औपचारिक-सा', 'भीतर हुलस तितली-सी फड़फड़ाई', 'जीवन गुजर गया हथोली हम बिच्छू सेते मगर कब तक सेवू।'।

भाषा भावों को वहन करने में पूरी तरह असमर्थ है। शब्दों का ताना-बाना इस तरह बुना गया है कि पूरा चित्र सामने उपस्थित हो जाता है। चित्रात्मकता इस उपन्यास की बहुत बड़ी विशेषता है। समस्त घटनाएँ इस तरह से घटित होती हैं लगता है कि हम उन्हें अपनी आँखों से देख रहे हैं। यथार्थवादी चित्रण पूरी तरह सफल हुआ है। लेखिका ने भाषा के माध्यम से भावों को इस तरह अभिव्यक्त किया है कि पढ़ने वाला प्रायः सिहर उठता है। चित्रण की यह मार्मिकता अन्यत्र दुर्लभ है। कहीं-कहीं तो ऐसा प्रतीत होता है कि शब्दों को आवां में तपाकर भाषा रूपी भांडों का रूप दिया गया है। भाषा सौंदर्य पूरी तरह से दिखाई देता है और घटनाक्रम शब्दों के माध्यम से आगे बढ़ता रहता है।

सूक्ष्म निरीक्षण में लेखिका माहिर है। छोटी-सी छोटी बात को और छोटी-से छोटी घटना को इस गहराई के साथ प्रस्तुत किया गया है कि देखते ही बनता है। सहपाठिनी सखी स्मिता ने नहीं बताया कि उसके पिता की पियक्कड़ी ने किस कदर घर का सुख-चैन लील रखा है? मामला रात तक ही सीमित होता तब भी गनीमत थी- शायद मात्र अंकिल पेंडुलम-से झूमते हुए नहीं चलते बल्कि उनकी पीठ पर लदा हुआ पूरा परिवार पेंडुलम-सा दृश्य डोलता धरता रहता है। 'ताड़ी पीकर भरी चांदनी रातों में ढोलक की थाप पर प्रेमियों के संग मंद-मंद धिरकती संथाली युवतियों के पुष्ट, उन्नत वक्ष-संधि में ज्वार-उद्दीप्त फेनिल लहरों-सा ऊभचूब होते इस कंठहार को जो देख पाए, वही उसकी 'छूमछनन' की भूलभुलैया में डगर भूल ले।' मैडम वासवानी का घर, उनके आभूषण, अभिरुचि सब कुछ बड़ी सूक्ष्मता से दिखाई गई है। आभूषण की डिजाइन, खजुराहो की स्त्री प्रतिमाओं से तुलना, बाजूबंद, हंसुली आदि आभूषणों आदि चित्रण, अंतर्राष्ट्रीय आभूषणों के प्रदर्शन में उनकी ओर से भेजे गए आभूषण निर्यातकों के प्रतिनिधि मंडल में सम्मिलित सब चीजें बड़ी सूक्ष्मता के साथ दिखाई गई हैं। लेखिका की दृष्टि किसी गहरे में जाकर वस्तुओं की छानबीन और परख करके सामग्री को प्रस्तुत करती हैं।

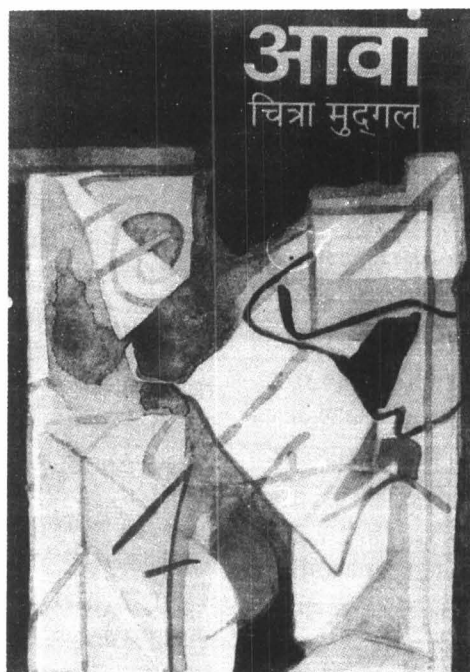
उपन्यास में बहुत सारी समस्याओं को उठाया गया है। यों भी जीवन में समस्या क्या कम हैं। पारिवारिक समस्याएं, घर के मुखिया के शराब पीने की समस्या, मजदूरों को मूर्ख बनाने की

समस्या और उनके ऊपर अत्याचार और सामुदायिक उन्माद की समस्या। पुरुषों की अशालीनता, औरत को केवल भोग की वस्तु मानना, जब भी जहां भी मौका मिला उसका शोषण करना, उस पर अत्याचार करना, नेताओं के दोहरे व्यक्तित्व, पूंजीपतियों के द्वारा मजदूरों के शोषण की समस्या, ट्रेड यूनियन के नेताओं द्वारा मजदूर को मूर्ख बनाकर अपना उल्लू सीधा करना, जगह-जगह नारी शोषण आदि अनेक समस्याओं का सफल और मार्मिक चित्रण किया गया है। समाज सेविका की भी दो श्रेणियां हैं और उन दोनों प्रकार की समाज सेविकाओं का वर्णन इस उपन्यास में किया गया है। 'समाज सेविका के कर्णफूल हीरों की अलतई मांसल देह पर कीमती चंदेरी घड़ी की चेन स्वर्ण की नहीं हो सकती। शाह बेन याद हो आई। वह भी तो समाज सेविका है। शोषित, प्रताड़ित जरूरतमंद स्त्री को आत्मनिर्भर बनाने की दिशा में उनसे सैकड़ों के हिसाब से पापड़ बिलवाती, उड़द, हींग, पापड़, खार की रिलीमिली गंध लिए मसालदानी-सी महकती हुई शाह बेन जब भी दिखती, देह पर खादी धोती धारण किए दिखती...उसे लगा कि शाह बेन स्वतंत्रता के प्रति पूर्व की अवशेष की-सी अनशन से जीर्ण-शीर्ण समाज सेविका हैं शायद।'।

पारिवारिक स्थिति का वर्णन इस उपन्यास में जगह-जगह किया गया है और परिवार की समस्याएं भी अनेक हैं। कहीं पिता बीमार, कहीं पिता शराबी, कहीं मां और बेटी की नोक-झोंक है, मां बेटी को समझ नहीं पाती और मां बेटी की दयनीय स्थिति पर दुखी दिखाई देती है। औरत की स्थिति का यथार्थ वर्णन बड़ी सहजता के साथ किया गया है। दूसरी श्रेणी में यात्रा करने वाली महिलाएं और पहली श्रेणी में यात्रा करने वाली महिलाओं के अंतर की बड़ी सहजता के साथ दिखाया गया है : 'उसे अचानक ख्याल आया तीन रोज से ऊपर हो रहे उसने बाबूजी को नहलाया नहीं। उन्हें नहलाना ताम-झाम भरा ही नहीं, कष्टसाध्य प्रक्रिया है। स्नानघर में कुर्सी रखकर सहारे से उस

पर बिठा उन्हें शिशु की-सी सावधानी और सतर्कता के साथ नहलाना पड़ता है। देह का निचला हिस्सा वे स्वयं साफ कर सकें इसकी सुविधा के लिए निकट ही स्टूल पर पानी से भरी बाल्टी, मग, साबुनदानी रखना होता है। ऐसा वह उनके संकोचवश ही करती है। वरना शुरुआत में जब वे आधा प्राणवंत शरीर बिना सहारे के घसीट पाने में असमर्थ थे, उसने उन्हें अपने हाथ से पाट दिया है और निःसंकोच साफ सफाई भी की है। उसने अनुभव किया की लाचारी के इन क्षणों में बाबूजी आंखें ढांप लेते, उनकी दोनों कनपटियां आंसुओं से चिपचिपा आती।'।

घर में कोई व्यक्ति विशेष रूप से घर का मुखिया इस तरह अपाहिज होकर पड़ जाए तो पारिवारिक समस्या कितनी विकराल हो जाती है। 'कुछ दिनों तक तो मां ने भी सेवा सुश्रुषा में कोर कसर नहीं बरती लेकिन जल्दी ही परिचर्या की एकरसता से ऊब दायित्व उसे सौंप किनारे होली।' 'कहां-कहां मरूं और क्या-क्या करूं जिसे देखो डिप्टी कलेक्टर बनने में अधिया रहे। मूढ़ने को



तपस्या की तपन का दस्तावेज

माजदा अरसद

चित्रा मुद्गल द्वारा लिखित उपन्यास आवां जैसा कि इसके नाम से प्रतीत होता है, बड़ी तपस्या और तपन के बाद तैयार हुआ है। जिस तरह कुम्हार अपने बर्तनों को आवां में पकाकर आंच में पक्का करता है, मजबूत बनाता है, उसी तरह यहां भी लेखिका की तपन पूरी तरह दिखाई दी। इस उपन्यास का समर्पण काव्यमय है। 'अपर्णा' को समर्पित करते हुए लिखा गया है : 'अब तुम्हें यकीन दिला सकती हूं तुमसे पिछड़ जरूर गई मैं 'अपर्णा', परास्त नहीं हुई। लिखने और कहने के बीच पहल सी उठ खड़ी हुई हूं।'

अपनी बेंटी अपर्णा की मृत्यु के बाद लेखिका ने इस आवां को सुलगाया। अपने शब्द रूपी भांडों को पकाया, तपाया, मंथन किया, मनन किया और तब यह उपन्यास सामने आया। इस उपन्यास की कहानी मौलिक और मामान्य विषयों से हटकर है। यहां संगठन को अजेंय शक्ति माना गया। संगठन को हस्तक्षेप बताया गया। उसे प्रतिवाद कहा गया। परिवर्तन और क्रांति का नाम दिया गया। यह सब ठीक चलता है जब संगठन वास्तव में निर्लिप्त भाव से काम करता है। संगठन की शक्ति अपार है। लेकिन जब संगठन के कार्यकर्ता लाभ और लालुपता से भर जाएं, संगठन का दुरुपयोग करने लगें और इस संगठन का आधार बनाकर वोटों का जुगाड़ लगाएं और धन कमाएं तो यह संगठन बेमानी हो जाता है। खून-पसीना बहाने वाले मजदूरों को आधार बनाकर उनकी लड़ाई लड़ने वाले लोग जब वास्तविकता से हटकर लालच में पड़कर सत्ता के हाथ की कठपुतली बन जाते हैं तो संगठन का कोई अर्थ नहीं रहता। इस उपन्यास में एक मजदूर के बेंटी की मोहभंग, पलायन और वापसी की कहानी है। वर्तमान समाज का कई स्तरों पर अनुसंधान इसकी विशेषता है। बड़ी निर्भयता के साथ इस संगठन शक्ति की परत-दर-परत खोलता हुआ आवां अपनी तरल, गहरी संवेदनात्मक पकड़, अंतरदृष्टि और अंतरव्याप्त रचना कौशल से अनेक बिंदुओं पर प्रकाश डालते हुए पाठक को सोचने, समझने और विचार करने पर बाध्य कर देता है और कहीं बहुत गहरे झकझोरता है।

लेखिका का संबंध ट्रेड यूनियन से रहा है। स्वयं उनके शब्दों में : 'ट्रेड यूनियन से मैं बहुत थोड़े समय के लिए जुड़ी रही लेकिन श्रमिक परिवारों से मेरा लंबा नाता रहा। हमारे घर के अहाते के बाहर चारों ओर मजदूर बस्तियां फैली हुई थीं। घर तो प्रताप नगर में था ही, हनुमान टेकरी, जोचिम कंपाउंड,

पठान कालोनी, मंगतराम पंप, भांडुक स्टेशन और बाद में बनी कजूर स्टेशन तक फैली बस्तियां।' शाम को सुलगती सिगड़ियों के धुएं के बादलों से उनका परिचय था। मीरा ताई से दूसरी मुलाकात उसी समय हुई थी जब वह एक समय डा. दत्ता सामंत के साथ ठाकुर साहब से मिलने आईं। 'इंडियन लिंक चैन में हुई तालाबंदी के संदर्भ में डा. दत्ता अंकल ने ठाकुर साहब से कई मुद्दों पर बातचीत की थी। उन्होंने अपनी आंखों से मजदूर की स्थिति को देखा था। उनकी जरूरतों को समझा और परखा था। मीरा ताई की संस्था 'जागरण' घरों में चौका बासन करने वाली मजदूर पत्नियों की संस्था थी। उनके बुनियादी हक की लड़ाई लड़ने वाली मीरा ताई थीं। मीरा ताई के आग्रह पर ही लेखिका इस संस्था से संबंधित हुई और मजदूरों की हड़ताल को बहुत नजदीक से देखा। मीरा ताई चाहती थीं कि मजदूर क्रोध में आकर अपनी बुद्धि भ्रष्ट न करें लेकिन मजदूरों ने मीरा ताई की बात न मानकर गाड़ी का दरवाजा खोल : 'तिवारी जी' को कार से बाहर घसीट लिया। पुलिस आ गई और इस कातिलाना हमले के जुर्म में सबको कुत्ते-बिल्लियों की तरह खींचकर पुलिस स्टेशन ले जाकर बंद कर दिया। लॉकअप में बंद मजदूर बेखौफ प्रबंध के खिलाफ नारे लगा रहे थे, मीरा ताई उनका नेतृत्व कर रही थीं। एक दिन स्टेशन रोड के भरे बाजार के बीच चार गुड़ों ने मिलकर मीरा ताई की देह से उनके कपड़े फाड़े, उन्हें बेइज्जत किया, उनकी पीठ में छुरा भोंक दिया और अवमानना की पीड़ा से सदा के लिए मुक्त कर दिया। लेखिका इस घटना को देखकर अचंभित रह गईं। बचपन की यादों में बसी यह घटना वह भुला नहीं सकी। बार-बार यह सवाल उन्हें परेशान करता। स्त्री की क्षमता को उसकी देह से उठकर स्वीकार न करने वाले क्रूर रुग्ण समाज को बोध कराना आखिर किन कंधों का दायित्व होगा। मीरा ताई की निर्मम हत्या के साथ ही उन विसंगतियों को रेखांकित करने का अंकुर धीरे-धीरे उभरा। उसने पौधे से घने पत्तों और मोटे-मोटे तनों का रूप धारण कर लिया और आज उपन्यास की शकल में आपके सामने है। इस उपन्यास की बड़ी महत्ता यह है कि इसमें आसामान की ऊंचाई को चिमनियों का धुआं ही चुनौती नहीं देगा, बल्कि बुनियादों अधिकारों के लिए सतत संघर्षशील श्रमिकों का टपकता हुआ पसीना मुट्ठी बंद किए प्रतिवाद का स्वर बुलंद करता हुआ मिलता है।

इस उपन्यास की भाषा का अपना विशेष महत्व है। भाषा पूरी तरह साहित्यिक होते हुए भी मजदूरों की शब्दावली से परिपूर्ण है। बंबइया रंग इसकी विशेषता है। अलंकार यद्यपि कविता की विशेषता है। लेकिन चित्रा मुद्गल ने अलंकारों को बड़ी खूबसूरती के साथ संजोया है। वह नगीनों की तरह जड़े

इसी प्रकार मालती माधव का एक प्रसंग है जहां माधव अपनी प्रेयसी के विरह में वन-वन भटकता हुआ प्रकृति के भिन्न-भिन्न उपादानों में मालती के अंग लावण्य और स्वाभाविक नम्रता के दर्शन करते हुए कहता है :

नवेषु लोभप्रसवेषु कान्तिर्दृशः कुरंगेषु गतं गजेषु।
लतासु नम्रत्वमिति प्रमथ्य व्यक्तं विभक्ता विपिने प्रियामे ॥

(मालती माधव - मूल भवभूति कृत)

कविवर सोमनाथ चूर्तेवेदी कृत अनुवाद-

लोद के वृच्छनि देह की दीपति लोचन चारु कुरंगनि छीने।
चोर लियौ नइबौ नवबेलनि पाइ अकेली विनोद विहीने ॥
श्री ससिनाथ की सोंह मतंगनि सुंदरि की गति आनंद भीने।
बांटे लिए अंग-अंग सु यों मनभावती के अपने मत कीने ॥

कवि सत्यनारायण कृत अनुवाद-

नव पुष्पित लोध के वृच्छनु नें नव कामल कांति लई सुकुमारी।
अरु लांचन चारु कुरंगनु नें गति मत मतंगनु नें मतवारी ॥
इन बेलि नबेलिनि नें मनमोहन नम्र स्वभावहि की गति धारी।
यह जानि परै सब नें बन में मिलि बांटे लई मम प्रान पियारी ॥

उपर्युक्त दोनों ही मूल पाठों के साथ-साथ सत्यनारायण 'कविरत्न' के दो ऐसे पूर्ववर्ती कवियों के अनुवाद प्रस्तुत किए गए हैं जो उनसे कम प्रसिद्ध और प्रतिष्ठित नहीं कहे जा सकते। ऐसा केवल तुलनात्मक दृष्टि से अवलोकन करने हेतु किया गया है। कहने का आशय यही है कि क्या 'शिव तांडव स्तोत्र' के रचयिता रावण और क्या पुष्पदंत, आद्य शंकराचार्य, कालिदास, भवभूति अथवा मैकाल और टेनीसन- इन सभी की कृतियों का काव्यानुवाद

करते समय उन्हें पूर्ण सफलता प्राप्त हुई।

भाषिक प्रयोगों के स्तर पर भी सत्यनारायण के मौलिक और अनूदित काव्यों में विविधरूपता देखी जा सकती है। स्तुति काव्य लिखते समय उनकी भाषा-भंगिमा विद्यापति और तुलसीदास का स्मरण कराती है तो समकालीन सामाजिक वास्तविकता को चित्रित करते समय उन्होंने भारतेंदु मंडल के कवियों द्वारा प्रयुक्त सहज-प्रसन्न और नित्य व्यवहार में आने वाली ब्रजभाषा का प्रयोग किया है। उत्तर रामचरित और मालती माधव के छंदों में वह रीतिकाल के शृंगारी कवियों की काव्यभाषा से टक्कर लेते हैं।

अनुप्रास, उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, संदेह, विरोधाभास आदि सामान्य अलंकारों के सहज समावेश से उन्होंने अपनी काव्यभाषा को सजाया-संवारा है। ब्रजभाषा की कविता में जो प्रवाह, संवेदनीयता और मांगीतिक चित्रमयता आई है उसमें छंद की अपनी महती भूमिका रही है। सत्यनारायण 'कविरत्न' के काव्य में भी पद शैली के अतिरिक्त दोहा, सोरठा, गीतिका, हरिगीतिका, कवित्त, सवैया, आभीर, आनंद, रूपमाला, शिखरिणी, द्रुतविलंबित, अरिल्ल, लावनी, रोला, कुंडलिया और छप्पय आदि छंदों का निर्दोष प्रयोग देखते ही बनता है।

आज ब्रजभाषा का स्थान खड़ी बोली ने ले लिया है और आधुनिकतावादी कवियों की तुलना में लोग पुराने कवियों का दरकिनारा करते चले जा रहे हैं, ऐसी स्थिति में यदि सत्यनारायण 'कविरत्न' को विस्मृति के गर्भ में विलीन किया गया है तो इसमें आश्चर्य का विषय क्या है! यह संतोष और प्रसन्नता की बात है कि पिछले दिनों नेशनल पब्लिशिंग हाउस नई दिल्ली से सत्यनारायण ग्रंथावली का प्रकाशन हुआ और सत्यनारायण 'कविरत्न' की रचनाओं को आगरा विश्वविद्यालय में एम. ए. हिंदी के पाठ्यक्रम में स्वीकार किया गया है। □

भारतीय संगीत का जीवन दर्शन

पृष्ठ 33 से आगे

हालांकि ध्वनि इनमें हुए बदलाव का कारण है फिर भी हम इस सूक्ष्म परिवर्तन को नहीं देख सकते।

जे.सी. पाल कृत संगीत चिकित्सा में क्रमशः वनस्पति पर संगीतात्मक प्रभाव तथा विभिन्न रागों द्वारा विभिन्न बीमारियों का उपचार: ये कुछ उदाहरण हैं जिनके आधार पर हमें खोज करनी होगी कि क्या दीपक राग गायन से दीपक पुनः जल सकते हैं? मेघ राग से वृष्टि हो सकती है? आखिर वह कौन-सी शक्ति है कि राग की शुद्ध अवतारणा से जंगली हिरण व्यक्ति के पास आ जाता है।

निष्कर्ष यही है कि भारतीय संगीत का प्रयोगात्मक पक्ष (संगीतात्मक अभिव्यक्ति) हृदय के शुद्ध भावों की रसपूर्ण अभिव्यक्ति है, जिसकी धारा में मानव, पशु, पक्षी, वनस्पति जगत सभी सहज आकृष्ट हो जाते हैं। जहां संगीत का सतत अभ्यास आत्मानुशासन तथा स्वर ब्रह्म से तादात्म्य स्थापित करता है वहीं वह मानव व्यक्तित्व को सहज संतुलित बनाता है। मानसिक

शांति आत्मसंतोष हमें धीरे-धीरे 'जीवेम शरदः शतम' की ओर प्रवृत्त करती हैं। □

संदर्भ :

1. हिंदी विश्वकोश खंड 11, पृ. 354 'विद्युतीकरण' से 'सल्फोनेमाइड' तक, नागरी प्रचारिणी मभा वाराणसी-19
2. कथक नृत्य शिक्षा, द्वितीय भाग, पृ. 1, पुरूदाधिर, संगीत नाटक अकादमी, नई दिल्ली द्वारा प्रायोजित, बिंदु प्रकाशन, उज्जैन, मध्यप्रदेश, 1987
3. संगीत रत्नाकर 1/2/60 61
4. स्वतंत्र कलाशास्त्र, पृ. 591-592 कांतचंद्र पांडेय, चौखंबा संस्कृत सीरिज ऑफिस वाराणसी-1, 1967
5. 'रामाश्रय झा 'रामरंग'-व्यंजना और स्वर, भाषा और स्वर (संगीत) शीर्षक लेख पृ. 14 15 इलाहाबाद विश्वविद्यालय संगीत सम्मेलन पत्रिका, 1980
6. विश्वज्ञान संहिता (प्रथम भाग) पृ. 60
7. ऐंथेटिक थ्योरी आफ इंडिया : पदमा मुधि, खंड 2: सामाजिक विज्ञान (मनोविज्ञान, समाज विज्ञान, मानव विज्ञान, तथा शिक्षा विज्ञान) प्रधान संपादक मोदूरि सत्यनारायण, हिंदी विकास समिति, मद्रास, नई दिल्ली, हिंदी विकास समिति 7 फर्स्ट क्रिसेंट रोड अडयार मद्रास-600020

के लिए अलग जा बसी। कल्पना कीजिए उनके रोगग्रस्त जीवन के अंतिम दिनों की, जब उनका दूर-दूर तक कोई मिजाजपुर्सा भी नहीं रहा हो। एक गरीब, बदनसीब और बीमार शायर के पास भला कौन जाना पसंद करता? संभव है कि उनकी अंतिम यात्रा के समय सैकड़ों लोग रहे हों और उनके बाद विशाल शोकसभाएं भी आयोजित की गई हो तथा उस समय के दैनिक पत्रों में उनसे संबद्ध श्रद्धांजलियां भी प्रकाशित हुई हो किंतु वह सब एक लोक दिखावा ही तो रहा होगा! कवि के आत्मगत मनोभावों को निम्न पंक्तियों में भली-भांति देखा जा सकता है—

- (क) तरे बिना मातु को मेरी काजर आंखि लगै है।
हाथ-पांव करि ऊजर, माता को मुख मोर धुबै हैं।।
- (ख) जो मो सों हंस मिलै हांत मैं तासु निरंतर चैरौ।
बस गुन-ही-गुन निरखत तिहि मधि सरल प्रकृति कौ प्रेरौ।।
यह स्वभाव कौ रोग जानियै मेरौ बस कछु नाहीं।
नित नव विकल रहत याही सो सहृदय बिछुरन माहीं।।
सदा दारु योषित सम बेबस आज्ञा मुदित प्रमानै।
कोरौ सत्य ग्राम कौ बासी कहा तकल्लुफ जानै।।
- (ग) कली री अब तू फूल भई।
मन-मधुकर बहु आस लगावै तो सों प्रेममई।।
- (घ) भयौ क्यों अनचाहत कौ संग।
- (ङ) बस, अब नहीं जाति सही।
बिपुल बेदना बिबिध भांति तो तन-मन व्यापि रही।।
कब लौं सहैं अवधि सहिबे की कछु तो निश्चित कीजै।
दीनबंधु यह दीन दसा लिखि, क्यों नहिं हृदय पसीजै।।

इन उद्धरणों में कवि ने क्रमशः अपनी माता के असामयिक निधन, अपनी बेतकल्लुफ सीधो-सादी तबीयत, प्रेयसी अथवा पत्नी की मनुहार, अपने बेमेल विवाह और अनचाहे मित्रों के संग-साथ और अपने जीवन के अंतिम दिनों में होने वाले शारीरिक कष्ट और मानसिक संताप का वर्णन किया है। यह असंभव नहीं रहा होगा कि कवि की सादगी और निरीह दीनता को लेकर उनके संगी-साथी उनका आगे-पीछे मजाक उड़ाते रहे हों। अपनी इसी दर्पपूर्ण पीड़ा को लेकर वह कहते हैं—

क्यों मन! ऐसौ हांत आधीर।
जग के जाने तू गरीब है वैसे सांचों मीर।।

कवि की इन मौलिक रचनाओं का विवेचन करके हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि उनमें काव्य रचना की प्रतिभा जन्मजात थी। जीवन की परिस्थितियों और सामाजिक परिवेश के साथ-साथ निरंतर अभ्यास के कारण उनकी यह प्रतिभा परवान चढ़ी।

इतनी श्रेष्ठ और अनाविल काव्य प्रतिभा के होते हुए भी कवि ने अपनी ऊर्जा का बहुलांश अनुवाद करने में ही लगाया। प्रारंभ में उन्होंने कालिदास कृत *रघुवंश* तथा *विशाख दत्त* के *मुद्राराक्षस* का आंशिक अनुवाद किया तत्पश्चात् भवभूति

के दोनों नाटक – *उत्तर रामचरित* और *भालती माधव* पर हाथ डाला। इनमें से पहले नाटक का अनुवाद सन 1913 में और दूसरे का सन् 1919 में कवि की मृत्यु के पश्चात् सामने आया। लार्ड मैकाले के *होरेणस* और टेनीसन के *इनांक आरडिन* के अनुवाद भी इसी क्रम में आगे-पीछे आए। इन अनुवादों की पृष्ठभूमि में संभवतः कवि की यह धारणा रही होगी कि ब्रजभाषा की कविता को संस्कृत और अंग्रेजी काव्य परंपरा के साथ जोड़ा जाए और उसके विषय वस्तुगत फलक को अधिक-से-अधिक सीमा तक व्यापक बनाया जाए। इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि सत्यनारायण के काव्य में परंपरा और आधुनिकता का यथेच्छ सामंजस्य और समन्वय लक्षित होता है। प्रसंगवश इन अनूदित कृतियों पर कुछ विचार करने से पूर्व हम सत्यनारायण जी की एतद्विषयक धारणा को संदर्भित करना उचित समझते हैं :

‘मूलग्रंथ के भाव की संपूर्ण रक्षा करके अन्य भाषा में छंदमाधुर्य के साथ कवि की उक्ति का सच्चा चित्र खींचना सहज सामान्य कार्य नहीं है।’

‘माना कि यह लालित्य मूलग्रंथ के समान इन हिंदी पद्यों में नहीं है परंतु यथासंभव भाव को पूर्ण तथा प्रकट करने का प्रयत्न किया गया है।’

‘निवेदन है कि यदि यह असमर्थ लेखनी-प्रसूत अनुवाद मूल का षष्ठिमांश भाव भी पाठकों के हृदयस्थ होकर मूल-ग्रंथ के पठन-पाठनार्थ यत्किंचित भी उनकी प्रवृत्ति को जाग्रत कर सका तो बस सब परिश्रम सफल है।’

प्रसन्नता की बात है कि उनके ये कथन अनुवादित कृतियों पर खरे उतरते हैं। यहां पाठकों के परिचय के लिए मूल और अनुवाद के साथ उन्हीं अंशों के अन्य कवियों द्वारा किए गए अनुवादों के उदाहरण देना अप्रासंगिक न होगा। मूलपाठ विशाखदत्त कृत मुद्रा राक्षस से :

श्यामीकृत्याननेन्दून् रिपुयुवतिदिशां सन्ततैः शोकधूमैः।
कांम मन्त्रि दुमेभ्यो नयपवनहतं महभस्म प्रकीर्य ।।
दग्ध्वा संभ्रान्त पौर द्विजगणरहितान् नंदवंश प्ररोहान् ।
दाह्याभावान्न खेदाज्ज्वलन इव वने शाम्यति क्रोधवहिनः।।

भारतेंदु हरिश्चंद्र कृत अनुवाद—

दिसि सरिस रिपु रमनी बदन ससि सोक कारिख लाइ कै ।।
लै नीति पवनहिं सचिव-विटपन डार डारि जराइ कै ।।
बिनु पुरनिवासी पच्छिगन नृप-बंस-मूल नसाइ कै ।
भां सांत मम क्रोधाग्नि यह कुछ रहन हित नहिं पाइ कै ।।

सत्यनारायण कृत अनुवाद :

दिसि के सम सत्रुतिया मुख चंद त कालिमा सोक धुआं की लगाइ।
दुम मन्त्रि पैं निज नीति के पौन रों मोह की छार अपार बिछाइ ।।
द्विज नग निवासी तज्यौ अस नंद के बंस के अंकर सारे नसाइ ।
नहिं खंद सों, किंतु न पाइ कछू ये गई मम क्रोध की आंच सिराइ ।।

उक्त उदाहरण में चाणक्य अपनी क्रोधाग्नि के शांत होने का कारण बताता है कि अब नंद के वंश में कुछ र्भ तो नहीं शेष रहा जिसे ईधन की भांति भस्म किया जा सके। निश्चय ही यहां अनुवादक के रूप में सत्यनारायण भारतेंदु हरिश्चंद्र के समान ही सफल हुए हैं ।

अंग्रेजी राज की सलामती के लिए प्रशस्तिगान करना पड़ता था। सत्यनारायण 'कविरत्न' भी इस विवशता के अपवाद नहीं थे। 'सम्राट स्वागत सौरभ', 'ब्रिटिश विजय प्रार्थना' और 'विजयवंदना' नामक कविताएं इस संदर्भ में दर्शनीय हैं।

कविर सत्यनारायण के काव्य पर समग्रतः दृष्टिपात करने से यह भी सिद्ध होता है कि वह प्रकृति प्रेमी स्वभाव वाले सरस-हृदय व्यक्ति थे। यों भी भारत एक प्राकृतिक सुषमा-संपन्न देश है अतः उसके कविता रूपी दर्पण में नदी, समुद्र, वन, पर्वत और मरुस्थालादि के चित्र-बिंबों के अतिरिक्त ग्रीष्म, वर्षा, शरद, शिशिर, हेमंत और वसंत नामक छहों ऋतुओं की नैसर्गिक शोभा सहज ही लक्षित होती है। सत्यनारायण जी ने अपने पदों और छंदों में जमकर प्रकृति के एक-से-एक छविमय दृश्यों का अंकन किया है। इतना ही नहीं, अनुवाद करते समय भी उन्होंने उन्हीं ग्रंथों का चयन किया है जो प्राकृतिक सौंदर्य के रस से सराबोर हैं। उदाहरण के लिए देखें-

वह देखौ नव कली भली निज मुखहिं निकारति ।
लगि-लगि वात-प्रभात गात अलसात सम्हारति ॥
प्रथम समागम समर जीति मुख मुदित दिखावति ।
लहकि-लहकि जनु स्वाद लैन कौ भाव बतावति ॥
मुखहिं मोरि जमुहाति भरी तन-अतन उमंगन ।
जोम जुवानी जगै चहत रस रंग-तरंगन ॥
वह देखौ अलिपुंज कली कल कुंज गुंजारत ।
मानहुं मोहन मनहिं मदन कौ मंत्र उचारत ॥
ठौर-ठौर मधु अंध भयौ वह देखौ झूमत ।
कबहुं जा पर वा पर यों सबही पर घूमत ॥

(वसंत वर्णन)

तथा

पसीना पौछत बारहिं बार पसीजत तौऊ सारे अंग ।
कलित कुम्हिलात हियौ कौ हार, उड़त सब मुखमंडल कौ रंग ॥
घाम के मारे अति घबराय, फिरत मारे चहुं जीवन काज ।
एक थल अपनौ बैरु बिहाय, नीर ढिंग पीबत मृग मृगराज ॥
तपत रवि सहस किरन बिकराल, चील चींहरव गगन मंडराय ।
भभकि भुवि उगिलत दावा ज्वाल, लूअ की लपट झकोरा खाय ॥

(ग्रीष्म वर्णन)

तथा

चेतन और अचेतन सबके हिय लहरावन ।
जयति पुलकि पग धारि पीर हरि धीर धरावन ॥
ठौर-ठौर बग पांति सोहनी सरन सजावन ।
बीरबहूटी बिपुल गोल गुलगुली भजावन ॥
छाबन दादुर-दल दुम-दल पल-पल खरकावन ।
बिधित बियोगिनि सोगिनी हिय पिय बिन धरकावन ॥
आरि जवासे जोर जचावन मोर नचावन ।

करखा धूम रचावन बरखा धूम मचावन ॥
कारी-कारी आंधियारी भारी झपकावन ।
टप-टप टपका-टपका घर बागन टपकावन ॥

(वर्षा वर्णन)

उपर्युक्त तीनों उद्धरण प्रकृति के मुकुमार, कठोर और मंदोद्धत पक्षों का चित्रण करने वाले हैं, जिनमें सौंदर्य की गत्यात्मकता, मांगीतिकता, अनुभवा की व्यंजना देखते ही बनती है। ऐसे शब्द-चित्र छायावादी कवि पंत की रचनाओं के अतिरिक्त आगे-पीछे कभी दृष्टिगत नहीं हो सकें।

जिन दिनों सत्यनारायण कवि कर्मरत थे, उन दिनों कवियों की प्रतिभा का वास्तविक परीक्षण करने के लिए समय-समय पर समस्यापूर्ति के आयोजन भी किए जाते थे। मूल्यांकन के समय केवल इतना ही नहीं देखा जाता था कि प्रतियोगी कवि ने समस्या के रूप में दी गई शब्दावली का कैसा निर्वाह किया है प्रत्युत यह भी देखा जाता था कि कवि ने किस प्रकार के कथन को चुना है। कथ्य के समरूप शब्दावली प्रयुक्त हुई कि नहीं और शैली काव्यात्मक एवं अलंकारमयी है कि नहीं। ऐसे कार्यक्रम ब्रजभाषा और खड़ी बोली दोनों में आयोजित हुआ करते थे। 'प्रेमघन', 'लछिराम', 'नाथूराम शर्मा', 'शंकर' और गयाप्रसाद शुक्ल नेही 'त्रिशूल' इस धारा के प्रमुख रहे हैं। सत्यनारायण जी ने भी इस परंपरा का निर्वाह किया था। उदाहरण के लिए देखें कि 'नौ सै मूसे खाइ कै बिलाई बैठी तप कौ' नामक मुहावरे में बंधी समस्या को उन्होंने कैसे पूरा किया था:

माखन चुरायौ दधि लूटि-लूटि खायौ, अब
छै दिन सो कान्ह बांधे लागै निज टप कौ ।
आजु हूं न भर्यौ पेट उनकौ बताऔ ऊधौ ।
कूबरी कौ राखि चाहें दूसरी कौ लपकौ ॥
मधुपुरी जाइ नित मौजहू उड़ावै आप
देत सिख गोपिन 'करौ' री तुम जप कौ ।
जनम सौ जानत, दुर्यौ न कछु सत्यदेव
नौ सै मूसे खाइकें बिलाई बैठी तप कौ ॥

कदाचित्त ऐसा कहना उचित नहीं होगा कि कविरत्न ने सदैव विषयपरक- आब्जेक्टिव- कविताएं ही लिखीं। उनकी कविताओं में ऐसे अनेक स्थल मिल जाते हैं जिनके माध्यम से कवि के निजी और अंतरंग जीवन के विषय में भी प्रकाश पड़ता है। पहली बात तो यह है कि एक अध्यात्मजीवी दार्शनिक, विचारक, कलाकार अथवा कवि का हृदय इतना विशाल हो जाता है कि उसमें विश्व-हृदय भी समाहित हो जाता है- अयं निजः परावेति गणना लघुचेतसाम्। उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुंबकम्। उनके पद्यों से यह सहज ही ज्ञात होता है कि वह एक भोले-भाले, निश्छल और सरल हृदय के व्यक्ति थे। उनका अकृत्रिम हृदय बेमतलब की तकल्लुफ में आस्था नहीं रखता था। जो भी उनसे दिल खोलकर मिलता था, वह उसी के हो जाते थे। जो लोभ सगे और आत्मीय बनकर उनके जीवन में आए उन्होंने ही उनके विश्वास को चोट पहुंचाई। मित्रों ने उनकी प्रकृतिगत ऋजुता को दीनता समझकर उनका उपहास किया और जो पत्नी के रूप में आई वह दो महीने बाद ही उनसे सदा

आध्यात्मिक और आदर्शमयी वृत्ति की स्तुति हमारे समाज में चिरकाल से एक सांस्कृतिक मानव मूल्य के रूप में बनी रही है- सत्यनारायण 'कविरत्न' ने इसी कष्टसाध्य कंटकाकीर्ण पथ का अपने संक्षिप्त से जीवन-काल में संवरण किया था। भवभूति को ही उन्होंने अपना मुख्य अनुवाद्य कवि क्यों बनाया? क्योंकि राम भवभूति के आदर्श चरितनायक थे जो सर्वशक्ति संपन्न मर्यादा पुरुषोत्तम होते हुए भी यावज्जीवन दुखों को गले लगाए रहे और जिन्होंने लोकाराधन के लिए स्नेह, दया, सौख्य ही नहीं अपितु अपनी जीवन-संगिनी सीता तक का परित्याग कर दिया था। कविवर सत्यनारायण की माता ने यदि उनका प्रसव और पालन सीता जैसी परिस्थितियों में किया तो वह स्वयं अपनी पत्नी को राम की तरह त्यागकर जीवन के शेष दिनों में उनके अभाव से व्यथित रहे थे, यद्यपि वह उत्तर *रामचरित* का अनुवाद परिणय और पत्नी परित्याग की घटना से चार-पांच वर्ष पूर्व ही कर चुके थे।

सत्यनारायण 'कविरत्न' के संपूर्ण काव्य को दो भागों में विभक्त करके देखा जा सकता है : एक- मौलिक कविताएं, और-दूसरा- अनूदित काव्य। उनकी मौलिक कविताएं परिमाण में अपेक्षाकृत न्यून हैं तथापि उनमें वे समस्त विशेषताएं विद्यमान हैं जिन्हें तत्कालीन ब्रजभाषा काव्य में मान्यता प्राप्त थी। इन मौलिक कविताओं को *हृदय तरंग* नामक पुस्तक में देखा-पढ़ा जा सकता है। सत्यनारायण जी ने *हृदय तरंग* की पांडुलिपि को प्रकाशनार्थ भरतपुर भेजा था किंतु वैसा नहीं हो सका, इसके विपरीत पांडुलिपि की अनेक कविताएं भी नष्ट-भ्रष्ट हो गईं। बनारसीदास चतुर्वेदी ने सन् 1919 में नागरी प्रचारिणी सभा आगरा के माध्यम से *हृदय तरंग* का प्रकाशन कराया तत्पश्चात् सन् 1940 में इसका दूसरा संस्करण निकला।

हृदय तरंग की सभी कविताएं दो वर्गों में विभाजनीय हैं- भक्ति भावनामूलक और समसामयिक यथार्थमूलक सामाजिक कविताएं। राम, दुर्गा, शिव, हनुमान, कृष्ण आदि देवी-देवताओं और भक्त शिरोमणि हनुमान तथा पतित पावनी गंगा, गोवर्धन पर्वत और ब्रजभूमि के माध्यम से कविवर सत्यनारायण ने अपने भक्त हृदय की अनुभूतियों और उद्गारों को व्यक्त किया है। यह एक अलग बात है कि उन्हें-हम सूर, तुलसी, नंददास और मीरा तथा रसखान जैसे पारंपरिक भक्तों की श्रेणी में नहीं रख सकते क्योंकि अपनी भक्ति भावनामूलक कविताएं में भी वह आत्मदैत्य, प्रपत्तिभाव और मोक्ष की कामना के स्थान पर देशोत्थान की तीव्र लालसा को ही मुखरित करते हैं। जहां तक समसामयिक यथार्थ से संबद्ध कविताओं का प्रश्न है, स्वामी रामतीर्थ, पं. मदनमोहन मालवीय, रवींद्रनाथ ठाकुर, गोपालकृष्ण गोखले, बालगंगाधर तिलक, महात्मा गांधी, लाला लाजपतराय, सरोजिनी नायडू, भारतेन्दु हरिश्चंद्र, प्रेमघन से संबंध रखने वाली कविताएं इस कथन को रेखांकित करती हैं। इन सभी महापुरुषों की भांति सत्यनारायण भी चाहते थे कि हमारा देश स्वाधीन हो और हमारा समाज रूढ़ियों तथा कुरीतियों से मुक्ति पाए। वह चाहते थे कि समाज में व्याप्त आर्थिक, सामाजिक और धार्मिक विसंगतियां समाप्त हों, शिक्षा का प्रचार हो, नारियों तथा दलितों का उत्थान हो, लोग अपनी सभ्यता और संस्कृति से प्यार करना सीखें। इन उदात्त लक्ष्यों की पूर्ति के लिए वह देशभक्ति और मातृभाषा भक्ति का होना परम आवश्यक समझते थे। अपने इस कथन की पुष्टि के लिए हम उनकी कुछ पंक्तियां उद्धृत करना चाहेंगे, यथा-

(क) बंदौ भारत भुवि महतारी।

शेष अस्थि पिंजर बस केवल भययुत चकित विचारी।।
रोग, अकाल, दुकाल सताई, जीरन देह, दुखारी।
मुरझाई माधवी लता-सी, जनु पाले की मारी।।

(ख) मोहन प्यारे तुम सों निस दिन विनय विनीत हमारी।
हिंदू, हिंदी, हिंद देश के बनहु सत्य हितकारी।।

अथवा

नागरी पढ़हु सप्रीति, पालहु निज धर्मनीति।
सकल चलहु स्वकुल रीति, रहहु न मन मारे।।

आदर्शवाद, नैतिकता, द्विवेदी युगीन सदाचार, उपदेशवृत्ति और उद्बोधन के स्वर तो सत्यनारायण 'कविरत्न' की रचनाओं में यथास्थान गुंजित हुए ही; साथ-ही-साथ अपने युग की बहुविध दुरवस्था को उन्होंने यथार्थवादी रीति से अपनी अनेक कविताओं में चित्रित किया, जैसे-

नित नव परत अकाल काल कौ चलत चक्र चहुं
जीवन कौ आनंद न देख्यो जात यहां कहुं
बढ़्यो यथेच्छाचारकृत जहं देखौ तहं राज
होत जात दुर्बल विकृत दिन-दिन आर्य समाज
दिनन के फेर सों
टिमटिमाति जातीय-जोति जो दीपसिखा-सी
लगत बाहिरी ब्यारि बुझन चाहत अबला-सी
सेस न रह्यौ सनेह कौ काहू हिय में लेस
कासों कहियै गोह कौ देसहिं में परदेस
भयौ अब जानियै।

(भ्रमरदूत)

सूरदास, नंददास और 'रत्नाकर' जी ने भ्रमर काव्य में जिस प्रकार निर्गुण ब्रह्मोपासना पर सगुण भक्ति की विजय दिखाई उससे सर्वथा भिन्न फलक पर सत्यनारायण 'कविरत्न' ने 'भ्रमर दूत' प्रसंग में परतंत्र भारत की करुण कथा को छंदोबद्ध किया है। उन्होंने यशोदा के माध्यम से पराधीना भारत-माता का संदेश संप्रेषित किया है। लंबे समय तक विदेशी दासता के शिकंजे में कसी हुई मातृभूमि की जो दयनीय स्थिति हो गई है उससे मुक्ति मोहनदास जैसे राष्ट्र-प्रेमी पुत्र ही दिला सकते हैं। शोक और कारुण्यभाव प्रधान 'भ्रमर दूत' शीर्षक कविता अपूर्ण होते हुए भी अपने आप में अद्वितीय है।

कविवर सत्यनारायण की राष्ट्रीय भावना और समाज-चिंता प्रधान रचनाओं से हम निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि उनमें देश प्रेम की भावना कूट-कूटकर भरी हुई थी तथापि उनमें *अंगरेजराज सुख-साज सजे सब भारी* लिखने वाले भारतेन्दु हरिश्चंद्र की भांति राजभक्ति की भावना भी थी। संभवतः यह उस युग की परिस्थितियों का ही तकाजा था जिसमें कभी सूर्यास्त नहीं होता था। ऐसे परमप्रभुता और शक्ति संपन्न ब्रिटिश साम्राज्य के विरोध में उस समय कुछ कह अथवा लिख पाना कदाचित्त विवेकसम्मत भी न था। अतः मन-ही-मन अंग्रेजी शासन के हितैषी न होते हुए भी तत्कालीन कवियों को

प्रारंभिक शिक्षा-दीक्षा इसी राममंदिर और ताजगंज (आगरा) के एक स्कूल में हुई थी। जब वह कुल सत्रह वर्ष के थे, तभी उनकी माताजी का देहांत हो गया। उन्होंने मिर्झापुर के टाउन स्कूल से सन् 1898 में हिंदी मिडिल और सन् 1900 में मुफ्तीद-ए-आम स्कूल, आगरा से अंग्रेजी मिडिल की परीक्षाएं उत्तीर्ण कीं। बाबा रघुवर दास की प्रेरणा और आशीर्वाद से सत्यनारायण जी ने आगरा के सेंट जांस स्कूल और सेंट पीटर्स स्कूल से सन् 1903 और 1908 में क्रमशः एंट्रेस और एफ.ए. की परीक्षाएं उत्तीर्ण कीं। अपने बाल्यकाल से ही वह ब्रजभाषा में काव्य रचना करने लगे थे फलतः जो विषय उन्हें रुचिकर अथवा जटिल प्रतीत होते उन्हें स्मरण रखने के लिए छंदोबद्ध कर लेते थे। महाकवि कालिदास प्रणीत रघुवंश और विशाखदत्त कृत मुद्राराक्षस के आंशिक पद्यानुवाद उन्होंने इसी काल में किए थे। सत्यनारायण जी ने बी. ए. करने के लिए सन् 1910 में सेंट जांस कालेज में दाखिला भी लिया किंतु वह परीक्षा में उत्तीर्ण नहीं हो पाए। दो वर्ष बाद बाबा रघुवर दास भी ब्रह्मलीन हो गए। यह वह समय था जब कुछ काव्य प्रशंसकों के अतिरिक्त दूर-दूर तक उनका अपना कोई स्वजन-संबंधी अथवा इष्ट-मित्र नहीं था।

सत्यनारायण जी अपनी वेष-भूषा और बोली-बानी से कभी ऐसा प्रतीत नहीं होने देते थे कि वह कितने विद्वान, सुशिक्षित, संस्कारशील, विदग्ध और प्रतिभावान कवि हैं। दुपल्ली टोपी, वृंदावनी बगलबंदी, गले में दोपट्टा और घुटनों तक ऊंची धोती धारण करने वाले इस व्यक्ति को ब्रजभाषा के सम्मोहन ने इतना अधिक आकृष्ट किया हुआ था कि वह कभी खड़ी बोली अथवा अंग्रेजी को अपने दैनिक व्यवहार में प्रयोग नहीं करते थे। वह हर किस्म की तकल्लुफ से दूर एक सीधे-सादे 'गंवार' दिखने में ही अधिक सुख अनुभव करते थे। जिस समय अखिल भारतीय हिंदी अधिवेशन में वह इंदौर गए हुए थे उस समय न सिर्फ रेलगाड़ी में बैठते समय अपितु अधिवेशन में प्रवेश के समय लोग उनकी पोशाक और भाषा के कारण यह नहीं जान पाए कि वस्तुतः वह ही अपने समय के श्रेष्ठ ब्रजभाषा कवि सत्यनारायण 'कविरत्न' थे। अपने समय के प्रसिद्ध टीकाकार और समालोचक पद्मसिंह शर्मा के अनुरोध और आग्रह पर उन्होंने सहारनपुर निवासी मुकुंदनारायण की पुत्री सावित्री के साथ अपने विवाह हेतु स्वीकृति भी दे दी। सात फरवरी, सन् 1916 को उनका विवाह संपन्न हुआ किंतु अंततः यह एक बेमेल विवाह (स्वयं कवि के शब्दों में 'अनचाहत कौ संग') ही सिद्ध हुआ। वह सावित्री के अनुरोध पर उन्हें उनकी किसी सहेली के यहां 10 अप्रैल, 1916 को स्वयं मुरादाबाद जाकर छोड़ आए जहां से वह (पत्नी) उनके पास कभी लौटकर नहीं आई। अंततः नितान्त एकाकीपन में असाध्य श्वास रोग से जूझते हुए सत्यनारायण 'कविरत्न' ने 16 अप्रैल, 1918 को इस असार संसार को सदा के लिए त्याग कर महाप्रयाण किया। आजीविका के तौर पर सत्यनारायण जी ने कुछ समय के लिए पीपलमंडी आगरा और ब्राह्मण स्कूल आगरा में क्रमशः बीस और पच्चीस रुपये मासिक वेतन पर अध्यापन कार्य किया था।

सत्यनारायण 'कविरत्न' के इस अड़तीस वर्षीय संक्षिप्त जीवन वृत्त पर विचार करने पर कुछ ऐसे निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं जिनसे उनके चरित्र पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। उनकी माता सनातनी वैष्णव सनादय ब्राह्मण परिवार की थीं और जीवन पर्यंत एक मंदिर में रहकर जीविकोपार्जन करती रहीं। अतः सत्यनारायण जी पर शैशव से ही धार्मिक संस्कारों की छाप पड़ी और उन

संस्कारों का प्रभाव सत्यनारायण जी की मौलिक रचनाओं पर देखा जाता है। उन्होंने एक कविता पंडित मदनमोहन मालवीय द्वारा हिंदू विश्वविद्यालय की स्थापना हेतु धनसंग्रहार्थ की गई अपील पर लिखी है। निश्चय ही उन पर मालवीय जी के विचारों के अतिरिक्त उनकी वेष-भूषा का भी प्रभाव पड़ा होगा। दोनों के अलग-अलग चित्र प्रायः एक जैसी पोशाक में दिखाई पड़ते हैं।

ध्यान देने की बात यह भी है कि सत्यनारायण की अधिकांश शिक्षा-दीक्षा ऐसे विद्यालयों और कालेज में हुई जहां केवल इस प्रकार के छात्र पढ़ने जाते थे जो न केवल आभिजात्य संपन्न प्रत्युत आधुनिक सभ्यता, अंग्रेजियत और ईसाइयत के लिए आज तक प्रसिद्ध रहे हैं। उनके समय में शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी ही था। अतः स्वाभाविक है कि उनकी अंग्रेजी भाषा और साहित्य की जानकारी भी बहुत अच्छी रही होगी। यदि ऐसा न होता तो वे मैकाले, टेनीसन और स्कॉट जैसे अंग्रेजी कवियों की रचनाओं के इतने सफल अनुवाद कैसे कर पाते? माता, मातृभाषा और मातृभूमि के प्रति प्रगाढ़ प्रेम के कारण ही उन्होंने अपनी अभिव्यक्ति के लिए ब्रजभाषा को माध्यम बनाया था। यदि वह चाहते तो ऐसा करने के लिए खड़ी बोली को भी अपना माध्यम बना सकते थे। उत्तर रामचरित और मालती माधव की खड़ी बोली के गद्य में लिखी भूमिकाओं को देखने पर सहज ही यह विश्वास किया जा सकता है कि उनका गद्य आचार्य रामचंद्र शुक्ल और आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के गद्य जैसा पांडित्य, विदग्धता और सर्जनात्मक विशिष्टता युक्त है।

सत्यनारायण 'कविरत्न' ने अनुवाद करने के लिए मुख्य रूप से भवभूति जैसे कवि की नाट्यकृतियों का चयन किया जो कि पदवाक्य प्रमाणज्ञ थे, जिन्हें अपनी प्रातिभ-विदग्धता पर सात्त्विक दर्प था और जो किसी राजाश्रय में न रहकर भी विश्वासपूर्वक उद्घोषित करते रहे कि 'भले ही कोई मुझे और मेरी कविता को आज न समझना चाहे किंतु इस निरवधि काल और विफला पृथिवी पर कभी और कहीं कोई तो उत्पन्न होगा जो मेरा और मेरी कविता का सही मूल्यांकन करेगा।' सत्यनारायण जी के साथ भी कमोबेश ऐसा ही हुआ। अपने ओढ़े हुए दैन्य को लेकर, खड़ी बोली की अपेक्षा ब्रजभाषा को अपना लेने पर और अभिजात नागरिक तकल्लुफ को छोड़कर ग्रामीणों जैसी सरलता तथा सादगी अपना लेने पर समकालीनों की दृष्टि में वह उपहास के पात्र बने। और मजे की बात है कि उन्हें इस उपहास का कभी बोध भी न हुआ। असाध्य प्राणघाती रोगों से ग्रस्त कोई भी व्यक्ति दूसरों की सहानुभूति का मुखापेक्षी हो सकता है और सत्यनारायण थे कि अपनी धर्मपत्नी को स्वयं उनकी इच्छा पर छोड़ आए और अंतिम सांस तक उनकी असहनीय विरहाग्नि में झुलसते रहे। सत्यनारायण जी के समय के मामूली अंग्रेजीदां लोग ऊंची-से-ऊंची कुर्सी पर जा सुशोभित हुए किंतु उन्होंने जान-बूझकर अध्यापन वृत्ति को स्वीकार किया। कष्ट-सहिष्णुता ही ऐसे व्यक्तियों का आदर्श होता है। वह चाहते तो इस 'चारुदत्तीय-दरिद्रता' से ऊपर उठ सकते थे किंतु उन्होंने संभवतः जान-बूझकर ऐसा नहीं किया। मनोविश्लेषकों ने ऐसे व्यक्तियों को 'परपीडनवादी' माना है जो दूसरों को कष्ट पहुंचाकर ही सुख का अनुभव करते हैं। सत्यनारायण 'कविरत्न', इसके विपरीत उन व्यक्तियों में आते हैं जो अपने ऊपर अधिक-से-अधिक कष्ट और अजाब झेलकर ही दूसरों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करते हैं। यथालाभ संतोष, त्याग, तपश्चरण और आत्मपीडन के माध्यम से परकीय श्रद्धा उपार्जित करने की एक सात्त्विक,

कहा तकल्लुफ जानै

सत्यनारायण 'कविरत्न' ऐसे रसवाक् सिद्ध कवि थे जिन्होंने आग्रहपूर्वक ब्रजभाषा को ही अपनी काव्यात्मक अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया। सत्यनारायण 'कविरत्न' को निर्विवाद रूप से ब्रजभाषा का अंतिम श्रेष्ठ कवि कहा जा सकता है। यह खेद का विषय है कि सूर, तुलसी, बिहारी, देव, मतिराम और पद्माकर जैसे ब्रजभाषा के पूर्ववर्ती कवियों की चकाचौंध में सत्यनारायण जी की काव्य प्रतिभा का सही-सही और संपूर्ण मूल्यांकन लंबे समय तक नहीं हो पाया। उन्नीसवीं शताब्दी के अंत में हुए ब्रजभाषा के इस सशक्त कवि के व्यक्तित्व और कृतित्व का परिचय प्रस्तुत कर रहे हैं देवेंद्र शर्मा 'इंद्र'

आधुनिक हिंदी कविता के विकास क्रम

में सन् 1900 से 1920 तक की कालावधि को हम ब्रजभाषा के अंतिम चरण और खड़ी बोली को व्यापक जन स्वीकृति के प्रथम चरण का समय कह सकते हैं। यों कहने के लिए खड़ी बोली में काव्य रचना का प्रारंभ लगभग भारतेंदु युग में ही हो चुका था तथापि श्रीधर पाठक, अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध, रामचंद्र शुक्ल और जयशंकर 'प्रसाद' जैसे कुछ ऐसे कवि भी थे जो दोनों भाषाओं में समान रूप से काव्य रचना कर रहे थे। बाबू जगन्नाथ दास 'रत्नाकर' और सत्यनारायण 'कविरत्न' ही ऐसे रसवाक् सिद्ध कवि थे जिन्होंने आग्रहपूर्वक ब्रजभाषा को ही अपनी काव्यात्मक अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया। सत्यनारायण 'कविरत्न' जी को निर्विवाद रूप से ब्रजभाषा का अंतिम श्रेष्ठ कवि कहा जा सकता है। यह खेद का विषय है कि सूर, तुलसी, बिहारी, देव, मतिराम और पद्माकर जैसे ब्रजभाषा के पूर्ववर्ती कवियों की चकाचौंध में सत्यनारायण जी की काव्य प्रतिभा का सही-सही और संपूर्ण मूल्यांकन लंबे समय



सत्यनारायण 'कविरत्न'

तक नहीं हो पाया। उनकी अल्प अवधि में की गई विपुल काव्य साधना पर विचार करने से पूर्व यहां उनके जीवन-वृत्त पर भी संक्षेप में कुछ कहना अप्रासंगिक न होगा क्योंकि किसी भी रचना का सम्यक मूल्यांकन उसके रचनाकार के मूल्यांकन के अभाव में प्रायः अधूरा ही रह जाता है।

सत्यनारायण जी का जन्म 24 फरवरी, सन् 1880 को अलीगढ़ जिले के अंतर्गत सराय नामक ग्राम में हुआ था। उनके पिता गोविंदराम दुबे अलीगढ़ जिले की तहसील इगलास के कचरौली ग्राम के निवासी थे जिनका निधन सत्यनारायण जी के जन्म से कुछ दिनों पूर्व ही हो चुका था। तहसील सिकंदराराऊ, जिला अलीगढ़ के जौरा ग्राम में उत्पन्न तलफो उर्फ रानी सरदार कुंअरि बालक सत्यनारायण को लेकर कुछ दिनों तक फिरोजाबाद में रहीं और तत्पश्चात आगरा से लगभग 5 किलोमीटर दूरस्थ धांधूपुरा के राममंदिर में बाबा रघुवर दास की शरण में आ बसीं। रामचरितमानस का उन्हें अच्छा ज्ञान था। अतः वह वहां रहकर लड़कियों को पढ़ाने लगीं। सत्यनारायण जी की

मृगः सोऽपि तृणाहारो विचरन्तवीं सदा।
लब्धकादपि संगीतं श्रुत्वा प्राणान् प्रयच्छति।।⁵

(भाषाहीन स्वर संगीत के प्रभाव में मृग प्राणों की आहुति दे देता है)।

वैसे तो जन्म से मृत्युपर्यंत हर समय और हर जगह हमारा संपूर्ण जीवन ताल-लयबद्ध है। आलंकारिक रूप में यह कहना सर्वथा सत्य है कि जीवन रूपी अध्याय के हर पृष्ठों पर संगीत विद्यमान है। हमारे प्राचीन ग्रंथकारों ने भाषा संबंधी दर्शन के अंतर्गत ध्वनि, अक्षर, शब्द आदि का वैज्ञानिक प्रतिपादन किया है। इनके सांगीतिक विवेचन क्रम में हमें आत्मानुशासन मिलता है और स्वर ब्रह्म से तादात्म्य कोई अनुशासित मानव ही स्थापित कर सकता है।

मानव विज्ञान समस्त मानव की प्रकृति एवं मानव व्यवहार को समझने के लिए विश्वव्यापी संस्कृतियों का अध्ययन करता है। विश्व के विभिन्न क्षेत्रों के मानव का सांस्कृतिक अध्ययन 'सांस्कृतिक मानव विज्ञान' करता है। 'सांस्कृतिक मानव विज्ञान' के तुलनात्मक अध्ययन का क्षेत्र धर्म, अर्थ, न्याय, लोक-कथा, प्राचीन कला के साथ ही संगीत शास्त्र भी रखा गया है।

आज वैज्ञानिक और प्राविधिक उत्कर्ष ने हर ओर परिवर्तन ला दिया है। जहां इन उत्कर्षों ने हमारे दैनंदिन जीवन में अनगिनत सुविधाएं जुटाई हैं वहीं दिनोंदिन एक सत्य उभरकर सामने आ रहा है कि अनुभूत मानव मूल्यों के प्रति हमारी अनास्था निरंतर बढ़ती जा रही है। हम विज्ञान से विरोध नहीं रखते। साथ ही वैज्ञानिक दृष्टिकोण के पक्षधर भी हैं। इसलिए विज्ञान को हम अपनी दैनिक आवश्यकता मानते हैं। तब समस्या कहाँ है? समस्या वहां से उत्पन्न होती है जब विज्ञान पर आत्मिक चेतना का नियंत्रण नहीं रहता; फलस्वरूप मानवीयता और मानवीय संस्कृति दोनों में उत्तरोत्तर हासोन्मुखी प्रवृत्ति बढ़ती जाती है। वर्तमान समय में जगतव्यापी विनाशलीला के कई कारणों में एक महती कारण वैज्ञानिक प्रगति पर आत्मिक चेतना का अनियंत्रण स्वीकारा जाता है। लेकिन इस प्रगति के साथ प्रेम, सौंदर्य, सत्य और आत्मबोध लेकर चलें तो शायद धरती का जीवन स्वर्ग में परिणत हो जाए।

संगीत शिक्षा मानव को मानव से जोड़ने का काम करती है। जोड़ने की शक्ति संगीत की मधुर ध्वनियों में है। ये ध्वनियां प्राणि मात्र के स्वरूप को भावात्मकता देती हैं लेकिन इसका उद्घाटन और संपादन अर्थात् व्यापक विचार एवं व्यवहार संगीत तथा दर्शन के सम्मिलित अध्ययन से संभव होता है। वर्तमान समय में भारत सहित संपूर्ण विश्व अलगाववादी प्रक्रिया से घिर गया है।

मानव की भोगोन्मुखी प्रवृत्ति से उपजी अशांति और अराजकता ने पुनः जीव-जगत के अस्तित्व को विनाश के कगार पर पहुंचा दिया है। ऐसे समय में आवश्यकता इस बात की है कि हम अपनी कालजयी रत्नगर्भा वैदिक संस्कृति का मंथन करके वह अमृत निकालें जिसका पान कर हम सामाजिक, राजनैतिक विकृति के रोगों से मुक्त हो सकें। अपनी घातक सभ्यता से दुखी तथाकथित सुसभ्य पाश्चात्य जगत पुनः उत्कट अभिलाषा लिए भारत की ओर देख रहा है। राष्ट्रीय चिंतक, साहित्यकार, वैज्ञानिक, संगीतकार को मिलकर संस्कृति, अनुशासन पर विचार करना है, दिशाएं खोलनी हैं। क्योंकि मानव से मानव की भावात्मक एकता को संगीत ने हर काल में विश्व स्तर पर बढ़ाया है। यदि हम इस ललित कला का अध्ययन दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक समाज दर्शन के धरातल पर करके आधुनिक युग के अनुरूप दिशा निर्देश करें तो बहुत हद

तक मानसिक तनाव, सांप्रदायिक झगड़े, वर्गभेद, क्षेत्रीयता जैसी समस्याएं सुलझेंगी। भारतीय संगीत अपने प्रयोग में समाज की ऐक्य प्रस्तुति है, इसलिए सामाजिक अनुशासन, सामाजिक एकता तथा सामाजिक व्यवहार संगीत के माध्यम से संबंधित होते हैं। मानव व्यक्तित्व में मन की भूमिका अत्यंत ही महत्वपूर्ण है क्योंकि यह मानव के समस्त क्रिया-कलापों को प्रभावित करता है। ये क्रिया-कलाप मानव के सामाजिक जीवन से संबंधित होते हैं। संगीत का संबंध मानव मन से ही है। राष्ट्र रूप में भारत जब तक प्रमादी, उग्रवादी, अतिवादी तत्वों की वासनामयी तृष्णा से अपनी मर्यादा को बचाता रहा है तब तक संगीतमय समस्वरता से हमारा जीवन शांतिपूर्ण सर्वांगीण विकास हेतु प्रयत्नशील रहा है क्योंकि लय-ताल युक्त सांगीतिक समस्वरता के लिए सतत अभ्यास एवं अनुशासन आवश्यक शर्त है। जिनके हृदय में दया, प्रेम, स्नेह, करुणा के भाव होते हैं उनकी शरीरी वीणा (कंठ) से निःसृत संगीत की सुरीली धारा अपनी अभिव्यक्ति में श्रोता के अदम्य घृणा, द्वेष, आक्रोश, कलह और हिंसा के भाव को पिघलाकर अच्छे भावों में परिणत कर देती है। संगीत सीखने की प्रथम शर्त प्रेम है। जिसकी अभिरुचि संगीत में है वे सरल करुणामय, दयावान, स्नेही और सहयोगी होते हैं। जब हृदय के कोमल भाव पिघलते हैं तभी कंठ से सुर-सरिता बहती है।

भारतीय संगीत के विविध राग विविध मनोदशाओं के द्योतक हैं। जिस राग से जैसा भाव उत्पन्न होता है वैसे ही रस का संचार व्यक्ति में होता है। प्रत्येक राग के गायन का समय यहां निर्धारित किया गया है तथा निर्देश भी यही है कि राग के समय का ध्यान करके ही रागों को प्रस्तुत किया जाए, क्योंकि कुसमय में कोई राग गाने-बजाने से न तो श्रोताओं पर अलग प्रभाव पड़ता है और न राग से रसोत्पत्ति ही संभव है।

'सा रे ग म प ध नि', जो इसके मूल स्वर हैं, उनकी सारणी में वंश, जाति, रंग, द्वीप, ऋषि, देवता, छंद तथा रस निर्धारित हैं। जो लोग इतिहास में उल्लिखित तानसेन और गायक बैजू की संगीत स्पर्धा को किंवदंती मानते हैं उनके समक्ष हम वाग्देवी के वरद पुत्र पं. ओंकारनाथ ठाकुर द्वारा किए गए प्रयोग को उद्धरित करना चाहते हैं। पं. ओंकारनाथ ठाकुर ने चिड़ियाघर के बर्बर शेर को कोमल गंधार वाले राग का श्रवण कराकर दुम हिलाने पर मजबूर किया था। प्रख्यात वनस्पतिशास्त्री सर जे. सी. बोस की प्रयोगशाला में भैरवी राग के गायन से पौधों पर पड़े प्रभाव का अध्ययन हम नकार नहीं सकते। अभी भी अन्नामलाई विश्वविद्यालय में वनस्पति विभाग के छात्र प्रयोगों में रत हैं। प्रयोग में देखा गया है कि एक ही किस्म के दो पौधों में से जिस पौधे को संगीत सुनवाया गया वह अपनी ही किस्म के दूसरे पौधों की अपेक्षा सवा गुना तेज गति से बढ़े। इस तरह सांगीतिक स्वरों का प्रभाव वनस्पति जगत पर प्रत्यक्ष देखा जाता है। सर जे.सी. बोस ने अपनी पुस्तक *वर्क आन प्लांट लाइफ* में वनस्पति में जीव की सत्ता प्रमाणित की है। अपनी पुस्तक में उन्होंने गायन का प्रभाव पौधों पर देखा है। इस संबंध में पद्मा सुधि ने निम्न विचार व्यक्त किए हैं: 'वनस्पतियों के आकार पर ध्वनि (जीवन शक्ति) का महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। परंतु वनस्पति के आकार का सूक्ष्म परिवर्तन हम देख नहीं पाते हैं। इसीलिए ऐसी कोई वनस्पति या प्राणी नहीं है जिस पर ध्वनि शक्ति का प्रभाव न पड़ता हो।' ⁷

पृष्ठ 39 पर जारी

विद्या होते हुए भी प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति के लिए विशेष उपयोगी है और इससे मन का सूनापन मिटता है। गणना के प्रति सजग रहे बिना भी संपूर्ण विश्व में निहित सामंजस्यपूर्ण गणना की भावपूर्ण अभिव्यक्ति है। जैसा कि हिंदी विश्व कोश में कहा गया है, जब स्वर और लय व्यवस्थित रूप धारण करते हैं तब एक कला का प्रादुर्भाव होता है और इस कला को 'म्यूजिक' या 'मौसिकी' कहते हैं।¹ जिसे ब्रह्म सदेह या नाद ब्रह्म कहा गया है। तात्पर्य यह कि गायन, वादन एवं नृत्य इन तीनों का एक जगह उपस्थित होना ही 'संगीत' है।

नृत्य अंगों और भावों की सौंदर्यमयी भाषा है। हर्ष, शोक, भय आदि भावों की उत्पत्ति मानव जाति के जन्म के साथ ही हुई है और इतना ही पुराना इसका इतिहास भी है। मानवीय सभ्यता के विकास में नृत्य का महत्वपूर्ण योगदान है। शरीरविज्ञानी, मनोविज्ञानी तथा विकासवादी विद्वानों ने ऐसा ही माना है। विलहेमवुंड का मत है कि भाषा विकास से पूर्व आरंभ में नृत्य ही मानव की संपूर्ण अभिव्यक्ति का माध्यम था।² सांगीतिक राग-रागिनी की रचना करते समय मस्तिष्क को केंद्रित करना, ध्यान एकाग्र करना, मन के आंतरिक भावों को प्रकाशित करने हेतु नवीन रागों की संयोजना करते समय मनुष्य का संगीताभ्यास, योगाभ्यास के समान होता है। जैसे किसी भाषा के निर्माण के लिए वर्णमाला सबसे छोटी इकाई कही जाती है, उसी तरह संगीत की सबसे छोटी इकाई स्वर ही है जिसकी रचना श्रुतियों के मेल से होती है। श्रुतियों की रचना ध्वनि के उतार-चढ़ाव को समझकर की जाती है। ध्वनि की ऊंचाई पहचानने पर हम शब्दों के अर्थ और उनके सही उच्चारण को जानते हैं। जिन मधुरतम ध्वनियों से हम सांगीतिक श्रुतियां अलग करते हैं, उमें ध्वनियों की ऊंचाई-नीचाई से विविध मनोभावों की जानकारी मिलती है। साथ ही इन्हीं से मनोभावों की अभिव्यक्ति भी होती है, क्योंकि इन्हें जानकर ही हम मानव सहित पशु-पक्षियों, वनस्पति-जगत सभी पर संगीत के प्रभावों को जान सकते हैं। राग-रागिनियों की रचना कैसे हुई? इनका विकास कैसे हुआ? इनके गंभीर अध्ययन से स्पष्ट होता है, इनके पीछे ये ही कुछ कारण रहे हैं। उदाहरण के लिए राग 'तोड़ी' हिरण को मोहित करता है, बीन की ध्वनि पर सर्प मंत्रमुग्ध हो जाता है और 'मृदंग' की आवाज से हाथी मस्त हो जाता है। कभी-कभी यह भी देखा जाता है कि वृंद वादन से प्रसारित भयानक ध्वनि हमें भयभीत कर देती है।

इन्हीं कारणों से हमारे वैदिक ऋषियों ने मानव, पशु-पक्षियों पर सांगीतिक श्रुतियों के प्रभावों का गहन अध्ययन किया है। अध्ययन से मिले परिणामों को उन्होंने प्रत्येक श्रुति पर मनोभावों को नियोजित करके बताया है। श्रुतियों के मेल से उद्भूत स्वरों के मनोभावों को भी बताया है। वेदों में अथवा मानव शरीर के भीतर की कोई भी वस्तु जो हवा में तेजी से कंपन पैदा करती है, ध्वनि (आवाज) या तरंग उत्पन्न करती है। हवा के माध्यम से संचरित ध्वनि तरंगें ठोस या तरल पदार्थों से होकर भी आगे बढ़ सकती हैं। ध्वनि के पैदा होने के लिए कोई ऐसा माध्यम होना चाहिए जिसमें अणु अपने पास के अणुओं से टकरा सकें। टकराकर ये ध्वनियां आगे बढ़ती हैं। ध्वनियां कर्णकटु भी होती हैं तथा कर्णप्रिय भी। कई तरह की ध्वनियों में सांगीतिक ध्वनि हमें अच्छी लगती है जबकि शोर उत्पन्न करने वाली ध्वनि हमें परेशानी में डाल देती है। शरीररज्य तथा सांगीतिक उपकरणों से उत्पन्न ध्वनि नियमित तथा एक समान तरंग लंबाई की होती है, जबकि शोर आम तौर पर कई तरंग, लंबाईयों की

ध्वनि तरंगों के आपस में मिलने से पैदा होती है। अनियमित प्रघात के रूप में प्राप्त ध्वनि तरंगें, श्रवण स्नायुओं के जरिए कान के पर्दे पर पड़कर कर्णप्रिय न लगकर कर्णकटु लगती हैं।

संगीत के शास्त्रज्ञ यह स्वीकार करते हैं कि श्रुति, स्वर आदि सांगीतिक ध्वनियां नादोत्पन्न हैं। हमारे दार्शनिक विचार कहते हैं— *नादाद बिंदु समुदद्भवः*। इससे पता चलता है कि ध्वनि के सांगीतिक विचार ने नाद अथवा नाद-ब्रह्म के सिद्धांत को उत्पन्न किया, तदुपरांत शब्द-ब्रह्म के सभी विशेष गुणों को नाद-ब्रह्म से स्वभावतः संबंधित कर लिया गया। नाद वायु महाभूत से उत्पन्न हुआ एक प्राणवायु है। जिस तरह वायु महाभूत अदृश्य है उसी तरह प्राण वायु नाद भी अदृश्य है। नाद की अभिव्यक्ति पिंड में होती है, जिसमें प्राणतत्व सहायक होता है। नाद की अभिव्यक्ति के लिए नाद उत्पादन करने वाला, नाद को ग्रहण करने वाला और नाद को वहन करने वाला तीनों उपकरण चाहिए।³

ये तीनों संगीत से सिद्ध होते हैं। नाद सदा ही गमनशील है, क्रियाशील है। संगीत कला 'नाद अथवा शब्द-ब्रह्म को प्रदर्शित करती है तथा यह कला मधुर ध्वनियों के साधन से स्वप्रदर्शित वस्तु अर्थात् शब्द-ब्रह्म के अनुभव की ओर श्रोता को ले जाती है।

राग मानव के कुछ संवेदनशील रसों की ओर संकेत करते हैं जो किसी समय पर जीवन में होने वाली घटनाओं अथवा परिस्थितियों द्वारा उद्बलित हो जाते हैं। हमारी जो स्वाभाविक ध्वनि है उसे नियमित रूप श्रुति तथा स्वर देते हैं। हम प्राकृतिक ध्वनियों को रूपांतरित कर, श्रुति तथा स्वरों का मेल देकर अपनी इच्छानुसार एक आकार देते हैं और उनका गायन कर प्रयोग में लाते हैं। संगीत के शास्त्रकार बताते हैं कि श्रुति तथा स्वरों का मेल इस प्रकार का हो कि इनका अबाध रूप से गायन भी हो सके, साथ ही इन स्वरों का आनंद भी मिल सके। हमारी संस्कृति में जहां संगीत को व्यक्तिगत मनोरंजन का साधन माना गया है वहीं इसे आत्मा और परमात्मा के संयोग का साधन बताया गया है।

मध्यकालीन संगीतशास्त्र पंडित शोईंगदेव ने मानव शरीर के कुछ चक्रों का परिचय दिया है। इन चक्रों पर कुंडलियों का नियंत्रण योगाभ्यास द्वारा बताया गया है। इनमें से पांचवीं कुंडली को हृदय में स्थित बताया जाता है, इसे ही हम अनहत नाद कहते हैं। ज्ञान-विज्ञान की समस्त कथाओं और उनके तकनीकी विकास का स्रोत यही नाद है। नाद ही मस्तिष्क का निवास स्थान माना गया है। नाद का संबंध मस्तिष्क के बुद्धिकोष से है और यह सोचता है तथा विविध आविष्कारों की प्रेरणा देता है। मस्तिष्क को किसी स्थान पर केंद्रित करने के लिए इसकी क्रियाओं पर नियंत्रण रखना आवश्यक है। रागों की रचना में उपर्युक्त बातों का विशेष ध्यान रखा गया है। यह ठीक है कि अक्षर स्वर का आधार है लेकिन स्वर का संबंध रस से है और रस का संबंध जल से है। जल से ही समस्त सृष्टि विकसित होती है और उसी में यह (सृष्टि) विलीन भी हो जाती है। यह भाषा रहित स्वर-संगीत ही था (कृष्ण की वंशी की धुन) जिसके आह्वान से सोलह सहस्र गोप बालाओं ने मध्य रात्रि में यमुना के निकट एकत्र होकर कृष्ण के सान्निध्य में 'महारास' को पूर्ण किया था। भाषा के माध्यम से इतनी गोपियों को एक-एक कर बुलाने में शायद कई वर्ष लग जाते। अस्तु स्वर की महिमा में उद्धरित निम्न श्लोक विचारणीय है:

भारतीय संगीत का जीवन दर्शन

भारतीय संगीत के विविध राग विविध मनोदशाओं के द्योतक हैं। जिस राग से जैसा भाव उत्पन्न होता है वैसे ही रस का संचार व्यक्ति में होता है। प्रत्येक राग के गायन का समय यहां निर्धारित किया गया है तथा निर्देश भी यही है कि राग के समय का ध्यान करके ही रागों को प्रस्तुत किया जाए, क्योंकि कुसमय में कोई राग गाने-बजाने से न तो श्रोताओं पर अलग प्रभाव पड़ता है और न राग से रसोत्पत्ति ही संभव है। भारतीय संगीत के जीवन दर्शन तथा समाज में उसकी भूमिका के बारे में बता रहे हैं शैल कुमारी तथा अश्विनी कुमार सिंह

आज भू-मंडलीय एकीकरण के प्रयास हर क्षेत्र में किए जा रहे हैं। साथ ही अपनी विशिष्ट पहचान बनाने की ओर भी प्रयास करना होता है। ऐसे में भू-मंडलीय एकीकरण के साथ-साथ अपनी विशिष्ट पहचान बनाने में कला, विज्ञान, वाणिज्य, राजनीति, तकनीकी सबको समुचित प्रोत्साहन मिलना चाहिए। एक उत्कृष्ट एवं स्वतंत्र कला के रूप में भारतीय संगीत हमारी राष्ट्रीय संस्कृति को पूर्व काल से आज तक प्रतिबिंबित करता आया है। संगीतकार स्वयं में एक सामाजिक इकाई है। समाज से वह कुछ लेता है और बदले में समाज को कुछ देता है। किसी भी संगीतज्ञ का सामाजिक स्तर, आर्थिक स्वतंत्रता और मानसिक संरक्षण निश्चित रूप से समाज को प्रभावित करता है। विश्व शांति, सद्भाव और पारस्परिक सहिष्णुता हेतु किए जाने वाले प्रयासों में सांगीतिक अनुष्ठान, संगीत सम्मेलन और सांगीतिक गोष्ठी का सर्वोपरि महत्व सर्वजन स्वीकृत है।

स्वर-संधान तथा संगीत प्रदर्शन क्रम में संगीत के परमाणु मानवीय दुर्बलताओं को नियंत्रित कर, उसकी सात्विक वृत्तियों को प्रशस्त करके आत्मिक शक्ति का आविर्भाव करते हैं, जिसका प्रभाव मानव जगत, पशु जगत तथा वनस्पति जगत पर पड़े बिना नहीं रहता। जब समाज में राजनीतिक स्थिरता आती है तो समाज का आर्थिक विकास होता है। उस समय घट रही हर घटना स्मृति में चली जाती है और वह इतिहास बन जाती है। बीते इतिहास को हम उसी तरह दुहरा नहीं सकते, लेकिन उसकी अमिट छाप उस समय की विभिन्न कलाओं में परिलक्षित होती है, जिससे बदलती परिस्थिति के अनुरूप हम नई दिशा ढूंढते हैं। इस संदर्भ में विचारणीय है कि राजनीतिक स्थिरता आर्थिक विकास की अनिवार्य शर्त है जिसकी स्पष्ट अभिव्यक्ति हम विभिन्न श्रव्य-दृश्य कलाओं में प्रत्यक्ष करते हैं। प्राचीन कालीन वस्तु, मूर्त, चित्र, काव्य एवं विभिन्न गायन शैली इनके अनमोल उदाहरण हैं।

संगीत भारत की वह कला है जो अन्य ललित कलाओं की तरह 'सत्यम शिवम सुंदरम' के भाव को जीवन दृष्टि बनाती है और मानवीय

अनुभूतियों की विविधताओं का समन्वय करती हुई विश्वजनीन बन जाती है। यह कला अपनी अभिव्यक्ति में ब्रह्मानुभूति कराने में सक्षम है।

संगीत कला की न्यूनतम इकाई श्रुति और स्वर हैं। ये श्रुति और स्वर मधुर ध्वनियों के अनेक अनुरणन को एक करने से बनते हैं। साथ ही यह भी देखा जाता है कि ये ध्वनियां मधुर हों। इस तरह संगीत विभिन्न ध्वनियों को मिलाने वाली वह कला है जिसके द्वारा मनोभावों के प्रदर्शन में रोचकता, माधुर्य एवं सुंदरता आती है। इसलिए संगीत मानवीय गायन तक ही सीमित न होकर पशु की विविध बोलियों, पक्षियों के उन्मुक्त कलरव, वायु की सनसनाहट सबको सम्मिलित कर लेता है। प्रकृति की ओर अपना ध्यान आकर्षित करने पर हम पाते हैं कि नदी की कलकल ध्वनि, पहाड़ियों से गिरते हुए झरनों का जल स्वर, वायु की सनसनाहट, इन सभी की अलग-अलग ध्वनियां प्रतिध्वनित होकर संगीत का रूप धारण कर लेती हैं।

भारतीय संगीत निश्चित ही स्वाभाविक विद्या है लेकिन जिस तरह अन्य विद्या के स्वाभाविक होने पर भी व्यक्तित्व में परिमार्जन हेतु उसे सीखना आवश्यक है इसी तरह संगीत का विधिवत प्रशिक्षण लेने पर ही हम इस विद्या को सीख सकते हैं। यह ऐसी विद्या है जिसकी ध्वनि पर मुग्ध होकर विषैले जीव-जंतु भी इसके आकर्षण में बंध जाते हैं। इसमें विभिन्न रोगों के निवारण की क्षमता है। यों तो संगीत का इतिहास ई.पू. 6000 वर्ष पहले से देखा जाता है, लेकिन यहां स्पष्ट करना आवश्यक है कि वैदिक काल से आज तक संगीत का उपयोग मानव की भौतिक, मानसिक और मनोवैज्ञानिक दुर्बलताओं से मुक्त होने के लिए किया जाता रहा है।

संगीत का प्रभाव मानव जीवन पर जन्म से मृत्युपर्यंत देखा जाता है। गहराई में उतरने पर हम पा सकते हैं कि ऐसा होना संगीत की उत्पत्तिजन्य परिस्थिति ही है। क्योंकि संगीत की उत्पत्ति श्रुतियों और स्वरों के मेल तथा उनके क्रम संचय के साथ हुई है। श्रुतियां मधुर ध्वनियां हैं जिनमें सम्मोहन एवं ऐक्य क्षमता है। कला रूप में संगीत और नृत्य की विशिष्टता यह है कि सर्वाधिक अमूर्त

चलने को हुआ कि उसकी अपनी ही जड़ें उसके आड़े आ गईं। अब तक उसकी जड़ें बरगद के पेड़ की जड़ों के साथ मिल गई थीं। उसकी अपनी जड़ें कम से कम दस फुट जमीन में धंस गई थीं।

“कैसे इंसान हो तुम! एक क्षण में कुछ कहते हो और अगले ही क्षण में कुछ और जो कुछ तुम्हारे पास है, उसे तुम नहीं चाहते। और जिस पाने की तुम्हारी इच्छा है, उसे पाते ही तुम उसको अस्वीकार कर देते हो। तुम सोचते हो कि तुम जब जो जी चाहे प्राप्त कर सकते हो। जहन्नुम में जाओ! तुम्हारे साथ बक-बक करने में कोई तुक नहीं। इस क्षण से जान लो कि हम एक-दूसरे को नहीं जानते।” इतना कहते ही पेड़ खामोश हो गया।

चंदू ने बहुतेरी मिन्नत की, हाथ-पैर जोड़े, आंसू बहाए, लेकिन सब बेकार...! पेड़ पर कोई असर नहीं हुआ।

चंदू यह सोच-सोचकर पत्ते की तरह कंपकंपा रहा था कि वह हमेशा के लिए एक पेड़ बन गया है, और अब कभी दुबारा इंसान नहीं बन पाएगा।

‘कौन... कोई है....? मेहरबानी करके मेरी मदद करो, मैं मर रहा हूँ!’

लाल बाग के गेट के बंद होने का समय हो गया था। इसलिए चंदू की चीख-पुकार और रोना-धोना केवल माली ही सुन पाया। वह भागता हुआ वहां आया और चंदू के गालों पर बहती आंसुओं की धारा को देखते ही उतावली में पूछने लगा--“क्या हुआ साहब? सांप वगैरा ने तो नहीं काट लिया है?”

चंदू घड़ी के पट्टे को खोलते हुए लगातार बिलख-बिलखकर रोता रहा। फिर माली से बोला--“दोस्त देखो मुझे, यहां नीचे! इस समय मेरे पास कोई पैसा नहीं है। मैं लगातार पेड़ बनता जा रहा हूँ। तुम यह घड़ी लो और गांधी बाजार चले जाओ। वहां, केनरा बैंक की बगल में मेरे दोस्त महेश का घर है। उसे अभी यहां ले आओ। वरना, मैं आज नहीं बच पाऊंगा।”

“अरे साहब! जाने दीजिए। मजाक करने को मैं ही मिला आपको! जाइए... अपने घर जाइए। मुझे गेट पर ताला लगाना है!” माली ने उसकी बात पर विश्वास न करते हुए कहा।

“मैं झूठ नहीं बोल रहा। मेरे पांवों में जड़ें

निकल आई हैं। आओ, आकर जरा कोशिश करो मुझे ऊपर खींचने की।” चंदू ने लगभग चीखते हुए कहा।

माली ने आगे बढ़कर चंदू को ऊपर उठाने-खींचने की कोशिश की, लेकिन असफल रहा। जड़ें मजबूती से भूमि में जमी थीं।

“जिंदगी में ऐसा अजूबा न देखा, न सुना! आपके दोस्त को बुलाने जाता हूँ।”

चंदू की जड़ें बरगद के पेड़ के पास ही उग आई थीं, जो एकांत लाल बाग के कांचधर के बगल में था। उसने बरगद से हर संभव-असंभव तरीके से मिन्नत की, लेकिन बरगद ने उसकी विनती पर कोई ध्यान नहीं दिया। चंद्रशेखर अपने भाग्य को कोसने लगा। उसने डर के मारे भगवान राघवेंद्र, साईबाबा, सात कवियों के येल्लम लक्ष्मीनरसिंह और सभी हिंदू देवी-देवाओं का नाम लिया। उनसे प्रार्थना की। उसने कसम खाई कि अगर वह सही-सलामत रहा तो सभी को चढ़ावा चढ़ाएगा। वह इस विचार पर धर्रा कर रह गया कि माली के वापस आने तक हो सकता है कि उसकी जड़ें भूमि में और गहरे तक चली जाएं। यदि यह रूपांतर पूरा हो गया तो उसके बोलने की शक्ति छिन सकती है।

‘मैंने आखिर अपने जीवन के इन चालीस सालों में पाया क्या है?’ उसने अपने आप से प्रश्न किया।

चंदू इंतजार करने लगा। अनुभव हुआ जैसे दोस्त के इंतजार में उसने पूरी उम्र गुजार दी है।

आखिर महेश आया। चंदू ने संक्षेप में सारा घटनाक्रम बता दिया। इस बार महेश और माली दोनों ने मिलकर चंदू को जड़ सहित उखाड़ने की कोशिश की। लेकिन उन्हें भूमि से चंदू की टांगें निकालने में सफलता नहीं मिली।

अब महेश को विश्वास करना पड़ा। वह बरगद के पेड़ के पास खड़े रहने भर से डर रहा था।

“अब हम क्या करें?” महेश ने पूछा।

“तुम और माली मिलकर मेरी टांगों को काट दो।” आखिर चंदू की निराशा भरी कराह निकली।

“यह उचित नहीं है। अगर हमने ऐसा किया तो तुम उसी समय मर जाओगे।”

“तो फिर कुछ और करो। प्लीज, जल्दी से जाकर एम.एल.ए. शंकरप्पा से बात करो। तुम और एम. एल.ए. दोनों अपने रसूक का इस्तेमाल करके कोई अच्छा-सा सर्जन खोजकर ले आओ। लेकिन जल्दी करो।” चंदू ने विनती की। चंदू के बचपन का मित्र महेश माली को वहीं रहने की सलाह देकर तुरंत चला गया।

आधी रात के समय महेश जैस-तैसे इस अविश्वसनीय बात के प्रति विश्वास दिलाकर कुछ सर्जनों को साथ ले आया। विकटोरिया अस्पताल के सर्जन, एनेस्थीसिया देने वाले और नर्सों के दल ने एक वैन में बैठकर लाल बाग की तरफ कूच किया। वैन आपरेशन करने की सभी सुविधाओं से सज्जित थी। उन्होंने चंदू के पास ही एक टेंट लगाया और चंदू के खून आदि की जांच होने लगी। रक्ताधान की तैयारी करने के बाद चंदू को एनेस्थीसिया दिया गया और उसकी दोनों टांगें काट दी गईं।

अगले दिन के समाचारपत्र इस घटना से भरे हुए थे।

एनेस्थीसिया का असर कम पड़ने पर होश आया तो उसे कुछ भी समझ में नहीं आ रहा था। लेकिन कुछ ही क्षणों में टांगों में तीखी पीड़ा और पट्टियों के अंबार ने उससे जैसे सारी कहानी कह दी। उसकी पत्नी और बच्चे हर रोज उसे देखने अस्पताल में आ रहे थे।

जब एक महीने के बाद कुछ ठीक होने पर उसे घर लाया गया तो उसकी पत्नी ने कहा--“आप भी बस! लाल बाग में उसी तरह कुछ दिन और नहीं रहा जाता था आपसे? लाखों लोग टिकट खरीदकर आपको देखने के लिए आते। उससे हमारी आर्थिक स्थिति सुधर जाती और आजीविका का एक सरल साधन मिल जाता। इतना कर्जा है हम पर, और अब आपकी टांगें भी चली गईं। भूखों मरने की नौबत आ गई है।”

उससे कुछ भी कहते न बना। बस, सिर्फ पत्नी की ओर देखता भर रहा-- एकटक। □

है, जो अपने अभिशाप की अवधि काट रहा है। चंदू ने कहा-“सच है, मैं जानना चाहता हूँ कि तुमने ठीक-ठीक क्या अनुमान लगाया है?”

बरगद के पास वाला पेड़ बोला-“अबे ओ काठ के उल्लू, अपनी यह खुर-फुसर बंद कर। मुझे नींद आ रही है।”

चंदू को इस बार पूरा विश्वास हो गया कि उसे यह सब पेड़ ने ही कहा है। हर तरफ अंधेरा गहरा होता जा रहा था। बरगद ने अपने पड़ोसी पेड़ को डांट दिया-“चुप कर बे हरामी!”

तब पेड़ ने डरे हुए चंदू को सांत्वना दी-“प्रिय चंदू, घबराने की कोई बात नहीं। वह पेड़ चलकर यहां तक नहीं आ सकता। बस खड़ा-खड़ा गालियां दे रहा है।”

चंदू ने कलाई को देखा- सात बज चुके थे। पूरा संसार अंधेरे में डूबता जा रहा था। खंभों की बत्तियां चमकने लगी थीं। उसने पेड़ से पूछा-“तुम कितने वर्षों से यहां पर हो?”

“तुम्हारे जन्म से कई वर्ष पहले से।” पेड़ ने कहा।

“मैं चालीस वर्ष का हूँ।” चंदू ने कहा।

बरगद के पेड़ ने अपनी बात जोड़ी-“मैं अस्सी का हूँ।”

“तुम कितने खुश हो?” चंदू ने ठंडी सांस ली।

“मुझे कोई परेशानी नहीं है। जब-तब लड़के आते हैं तो मुझ पर अपने-अपने नाम लिख देते हैं। कुछ प्रेमी अपनी प्रेमिका का नाम मुझ पर खोदकर लिख देते हैं। तुम वे खुदे हुए नाम देख सकते हो- नसीम, मुमताज, सरोज, हेमा। जब वे मुझे छीलते हैं तो मुझे पीड़ा होती है। लेकिन ये घाव देखते ही देखते भर जाएंगे।” पेड़ ने कहा।

“प्रिय बरगद के पेड़! मैं भी पेड़ की तरह बनना चाहता हूँ।”

“तुम्हारी इच्छा जरूर पूर्ण होगी। देखो, तुम्हारा रूपांतरण शुरू

हो गया है...।” बरगद का पेड़ बोला।

चंदू जहां खड़ा था, वहीं उसकी जड़ें निकलने लगीं। जड़ें पांवों से फूट रही थीं। दो मोटी जड़ें भूमि में घुस गईं और मूल जड़ में बदल गईं। फिर मूल जड़ से हजारों पतली-पतली जड़ें भूमि के अंदर फैलने लगीं। चंदू की खुशी की कोई सीमा नहीं रही। उसके पूरे शरीर में एक अद्भुत आनंद अनुभव होने लगा। जैसे-जैसे मूल जड़ और गहराई में घुसती गई और पतली जड़ें अपना जाल फैलाती गईं, वह अजीब तरह की कोमलता, गरमाहट और खुशी अनुभव करने लगा। वस्तुतः उसे कष्ट की पराकाष्ठा का आनंद मिल रहा था। जी चाहता था कि चिल्ला पड़े-“आ...आ... आह...!” उसे अपना आप हल्का और गर्म महसूस हुआ जो पिघलकर मुलायम भूमि में घुसता जा रहा था। उसके शरीर में जैसे बिजली-सी कौंध गई, बिल्कुल उसी तरह जब उसने सर्दियों में अपनी प्रेमिका शार्लेट को बांहों में लिया था। उसने अपने को अलग ही संसार में पाया, जैसे अमेरिका से लौटने पर मातृभूमि की गोद

में लौटने पर अजीब-सी खुशी अनुभव की थी। वह खुशी के मीठे दर्द के साथ कराहा।

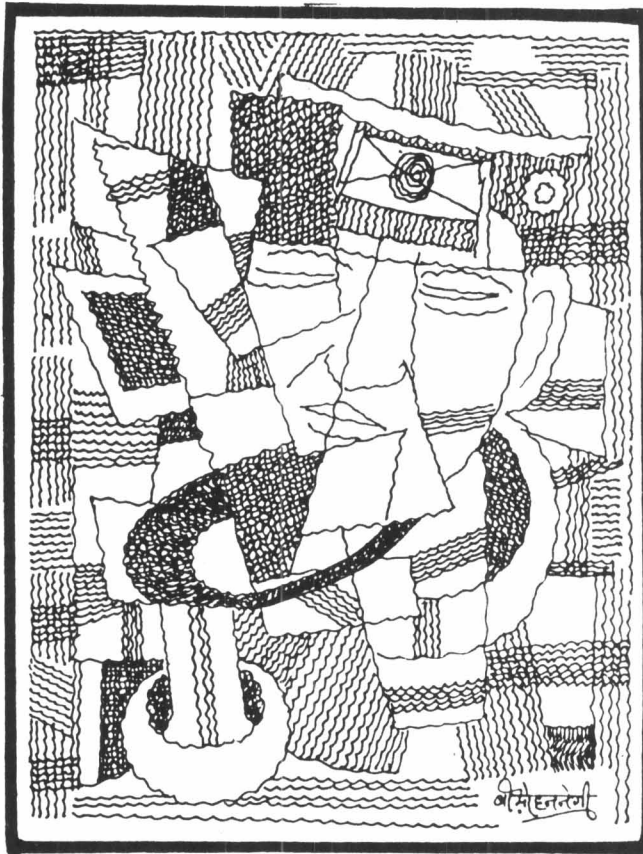
जैसे-जैसे क्षण बीतने लगे, उसका रोम-रोम अकथनीय उत्तेजना से भरता चला गया। यह कुछ वैसी ही उत्तेजना थी, जो उसने तीन वर्ष के अंतराल के बाद कन्नड़ सुनने पर महसूस की थी, या फिर जब उसने सरोजा के साथ दांपत्य सुख के क्षण गुजारे थे। वह खुशी के मीठे दर्द के साथ कराहा। हर क्षण उसके अस्तित्व के जर्ने-जर्ने में अद्भुत चेतना का ओज फैलता जा रहा था। इस असाधारण अनुभव में डूबे प्रत्येक क्षण का आनंद लेते हुए उसने महसूस किया कि वह मां के गर्भाशय में पुनः प्रवेश कर रहा है, या वह मुर्गी के पंखों के नीचे गर्माहट पा रहे चूजों की तरह बन गया है, या फिर ऐसा इंसान बन गया है जिसने अपने विभिन्न अनुभवों से खुशियों का अनंत खजाना पा लिया हो।

अचानक चंदू को अपने घर की याद आई।

उसके बच्चों के जूते फट गए थे। स्कूल में काफी समय से बहानेबाजी से काम चल रहा था। चूँकि अमेरिका से लौटने के बाद उसे कोई नौकरी

नहीं मिली थी, इसलिए हर रोज कुआ खोदो और पानी पियो वाली स्थिति थी। अगर बच्चों को नए जूते नहीं लेकर दिए तो उनको स्कूल से निकाल दिया जाना निश्चित था। आज उसने खरीदने का फैसला ले ही लिया, चाहे उसके लिए उसे कहीं से उधार क्यों न लेना पड़े। तभी उसे शेट्टी के किराने की दुकान की तीन महीने से न चुकाई उधारी याद हो आई। हालांकि शेट्टी ने उससे पैसों का ताकाजा नहीं किया था, क्योंकि उधारी उन दिनों में बढ़ती गई थी, जब वह अमेरिका गया हुआ था। वह चिंतित था कि किसी भी दिन शेट्टी उसकी पत्नी का अपमान कर सकता है। राशन और दूध आदि के लिए पैसे न दे सकने के कारण अब वह अपना नपुंसक गुस्सा पत्नी पर निकालने लगा था।

इन सब बातों की उसके दिमाग में जैसे भीड़ लग गई। और किसी भी चीज से पहले चंदू ने बच्चों के लिए जूतों का इंतजाम करने का निर्णय किया। लेकिन जैसे ही वह अपने घर की ओर



पेड़ों को देखते ही उसके अंदर ईर्ष्या की हिलोरें उठने लगती हैं। कारण? क्योंकि पेड़ों की जड़ें होती हैं। वह आदमी, यानी चंद्रशेखर एक कवि है। वह अपने को असंबद्ध अनुभव करता है, क्योंकि उसकी जड़ें किसी भी जगह पर नहीं हैं। वह एकाकी होने की पीड़ा अनुभव करता है और टूटने का दुख उसे सालता है। वह आधुनिक कविताएं लिखने, अपने उपन्यासों से पाठकों को उबाने वाले असंगत और 'माडर्न' नाटक आदि लिखने का कारण अपने अजनबीपन को मानता है। दूसरे शब्दों में कहा जाए तो इस सबके लिए वह अपने जड़रहित होने को जिम्मेदार ठहराता है।

बंगलौर निवासी चंद्रशेखर ने लाल बाग में कांचधर के बगल वाले पेड़ के नीचे बैठकर एक कविता लिखी :

पेड़ !

तुम्हारी जड़ें हैं।

मैं अलग-थलग

भटक रहा हूँ निरुद्देश्य-सा

मैं कभी नहीं रहा-

एक शहर में,

एक घर में,

या फिर एक ही औरत के साथ;

न ही खोज पाया हूँ अपनी जड़ें।

मैं शहर-शहर भटका हूँ,

मकानों को भी बदला है लगातार

और औरतों को भी!

आज मैं जड़ों से रहित हूँ।

हे पेड़ ! तू कितना खुश है

और मैं कितना दुखी!

तभी उसे किसी आवाज ने पुकारा- 'चंदू!' चंद्रशेखर डर गया। उसे लगा, उसे किसी भूत, पिशाच, चुड़ैल या मोहिनी ने पुकारा है। वह उठकर खड़ा हो गया। कान हल्की से हल्की आवाज को सुनने के लिए सतर्क हो गए। थोड़ी देर बाद उसे लगा कि उसने फिर से वही आवाज सुनी है- 'चंदू!' वह आसपास देखने लगा।

लाल बाग देखने आए दर्शक कुछ ही दूरी पर चल-फिर रहे थे। इतने लड़कों, बच्चों, महिलाओं और बड़े-बूढ़े लोगों को देखकर वह

जड़ों वाला आदमी

सुमर्तींद्र नाडिंग

कन्नड़ कहानी का अंग्रेजी से अनुवाद : पृथ्वीराज मोंगा

रेखांकन : बी. मोहन नेगी

सहायता के लिए उन्हें पुकारने को हुआ।

"कौन है?" उसने पूछा।

जवाब में उसे शब्द सुनाई पड़े- "मैं तुम्हारे पीछे वाला पेड़ हूँ।"

चंद्रशेखर एक झटके से मुड़ा और अपने पीछे वाले पेड़ को देखने लगा। लेकिन उसकी न आंखें थीं, न नाक थी और न कान थे। फिर...?

चंदू मन ही मन एक साथ भगवान शिव, राघवेंद्र और साई बाबा का नाम लेने लगा। फिर पेड़ को देखते हुए उसने पूछा-"क्या पेड़ बोल सकता है?"

"क्यों नहीं!" पेड़ ने जवाब दिया-"पेड़ सैकड़ों भाषाएं बोल सकते हैं। जब इंसान एक-दूसरे को ही नहीं समझते तो फिर वे पेड़ों की भाषा कैसे समझ सकते हैं?"

"तुम कन्नड़ कैसे बोल रहे हो?" चंदू ने पूछा।

पेड़ ने जवाब दिया-"मुझे कन्नड़ आती है। मेरे दादा-परदादा विजय नगर साम्राज्य के जमाने में आंध्र प्रदेश से यहां आए और यहां अपनी जड़ें जमा लीं। क्या तुमने तेलंगाना के जुड़वां शहरों-अवल और इंद्रगंति के बारे में सुना है? मेरे

दादा-परदादा वहीं से आए थे। हमारा जन्म क्रम वहीं से शुरू हुआ। नरसिंह यह हमारे स्रोत थे।" इतना कहकर पेड़ चुप हो गया।

"तुम्हें तेलुगु आती है?" चंद्रशेखर ने पूछा।

पेड़ ने कहा-"नहीं, मेरे परिवार में कोई भी तेलुगु नहीं बोलता।"

"तुम्हारी जाति क्या है?" चंद्रशेखर ने टोह ली। चंद्रशेखर घबराया हुआ था, इसलिए धर्मनिरपेक्षता और नास्तिकता संबंधी उसकी सारी बातें हवा हो गईं।

पेड़ ने 'ही-ही' करते हुए उत्तर दिया-"बरगद जाति।"

"क्या उप-जाति भी है?"

चंदू के यह पूछने पर पेड़ ने उत्तर दिया-"मैं तुम्हारा मतलब समझ सकता हूँ। जाति मानवीय व्यवहार का मूल है। तुम्हारे प्रश्न का अर्थ यह जानना है कि यह सब क्या प्रकृति में भी होता है, ठीक?"

चंदू ने अनुभव किया कि पेड़ घमंडी है। लेकिन साथ ही उसे यह भी महसूस हुआ कि पेड़ के सामने उसकी एम.ए. की डिग्री धूल चाट रही है। चंदू ने सोचा कि यह पेड़ जरूर कोई मनीषी

चार कविताएं : शरद कोकास

नाटक : एक

पिता हुए नाराज
भाई ने दी धमकी
मां ने बंद कर दी बातचीत
उसने नाटक नहीं छोड़ा

घर में आए लोग
पिता ने पहना नया कुर्ता
मां ने सजाई बैठक
भाई लेकर आया मिठाई
वह आई साड़ी पहनकर
चाय की ट्रे में लिए आस
सभी ने बांधे तारीफों के पुल
अभिनय प्रतिभा का किया गुणगान
चले गए लोग
वह हुई नाराज
उसने दी धमकी
बंद कर दी बातचीत
घर वालों ने नाटक नहीं छोड़ा!

नाटक : दो

एक से हाथ मिलाकर
उसने कहा हलो
दूसरे से मिला गले
लगाया एक कहकहा
बच्चे को उठाया गोद में
प्यार से चूमकर बढ़ गया आगे

भाभीजी से की नमस्ते
दोस्त की पीठ पर जमाई धौल
शिकायत के लहजे में पूछा
कहां रहते हो आजकल

वह कहता रहा कुछ न कुछ
इसलिए कि कहने को बहुत कुछ था
वह कहता रहा कुछ न कुछ
इसलिए कि कहने को कुछ नहीं था

कहते कहते थक गया
बैठ गया मित्र के पास
फिर कहने लगा
चर्चा में बने रहने के लिए
कितना नाटक करना पड़ता है!

नाटक : तीन

हां दर्द था उनकी आवाज में
शताब्दियों का दर्द
भरतमुनि और कालिदास को याद करते
हुए जब कहा उन्होंने
कहा उन्होंने
नाटक खेलने
और मरम्मत की दुकान खोलने में
अब कोई फर्क नहीं रहा
हर कोई नया कलाकार
दो चार नाटक खेलकर
बन जाता है निर्देशक
बना लेता है अपनी टोली
उतारता है
नए पट्टों को अखाड़े में
सिखाता है
अपने सीखे हुए सत्वक
करता है जोड़-तोड़
जीतने के लिए स्पर्धा में
बिठाता है समीकरण
पुरस्कारों के लिए
फिर वह
नाटक कतई नहीं खेलता
कहा उन्होंने !

निर्देशक

उसकी उंगलियों पर बंधे धागे
दिखाई नहीं देते
फिर भी रंगमंच की दुनिया
उसकी उंगलियों पर नाचती है

समय के एक निश्चित कालखंड में
वह अपने इशारों पर उठाता है
घृणा के तूफान
हंसी के बुलबुले
लहराता है आंसुओं का समंदर
बहाता है प्रेम की बयार

वह मालिक से चाबुक उठवाता है
मजदूर की पीठ झुकवाता है
फिर मजदूर के हाथों में चाबुक थमाकर
दर्शकों की दबी इच्छाओं को
आयाम देता है

वह नियति के नए अध्याय गढ़ता है
यथार्थ और कल्पना के मेल से उपजाता है
तमाम अनदेखी स्थितियां
उसे जनता की सांस रुकवाने की
कला आती है

वह लिखित में अलिखित जोड़ता है
इस तरह दूसरा लेखक कहलाता है !

कुछ तुम कहो

एस. श्याम

तुम कुछ कहो मैं कुछ कहूं
बात से बात ये चलती रहे
इसी गुफ्तगू में खुशी और गम की
सुबह और फिर शाम ढलती रहे
शब्द न कह पाएं जो बात मन की
अधर से नजर पर फिसलती रहे
नहीं कुछ कहकर सभी कुछ कहती
बहकती नजर फिर संभलती रहे
पीर के हिमाद्रि से निकल स्नेह गंगा
दो तटों के बीच यूं ही उफनती रहे
समय और दूरियां काटती काटती
असीम के उदधि में सिमटती रहे!

दो कविताएं : श्रीरंग

अबाबील की तरह

वे
सक्रिय हो उठती हैं
सूर्यास्त के बाद
नीले आकाश में गोल घरे बनाकर
भरती हैं उड़ानें
पूरी की पूरी रात काट देती हैं
हवा में कलाबाजियां करते हुए
आकाश की अनंत काली गहराई में
करती हैं गोताखोरी...
वे
निष्क्रिय रहती हैं
पूरे दिन
किसी कल्पवृक्ष की टहनी पर
नहीं बैठतीं/नहीं लेतीं पनाह
आलीशान बहुमंजिली इमारतों की
छत के नीचे
छायादार वृक्षों की कोटरों में
एयर कंडीशनरों में
नहीं करती विश्राम...
वे अपना सारा दिन
जीवन के सारे उजले क्षण
काट देती हैं
किसी पुरानी निर्जन हवेली के खंडहर में
हांफते हुए...
वे
जुटाती हैं मिट्टी/ घास-फूस/तिनके
लार में सान-सानकर
चिपका देती हैं टूटी दीवारों के
उपेक्षित कोनों पर
प्याले की तरह अपना घोंसला
सेती हैं अंडे/ पालती हैं चूजे
वे एक जगह पर बहुत समय तक
नहीं जमाए रहतीं पांव...
वे
अपनी छोटी चोंच से सोखती हैं

बूंद-बूंद नमी
लंबे डैने से खुद को खेंती हैं नाव की
तरह हवा में
लगातार काटती हैं वातावरण की काई
कमजोर पतंगों को मौका पाते ही
बना लेती हैं आहार
बुरे वक्त में
निहायत बुरी हो जाती हैं वे...
वे
पश्चिमी संसार के ठंडा पड़ते ही
कर देती हैं पलायन
निकल जातीं दूर
काली रात में लगातार घोलती रहती हैं
अपना काला रंग
बड़ी विचित्र होती हैं वे- अबाबील की
तरह...!

खटबिनवा

साइकिल के कैरियर पर
लादकर बाध के गुच्छे/खोंसकर बसूला
खाता है दचके/ घूमता है गली-गली
लगाता है आवाज
खाट बिनवा लो... खाट बिनवा लो...
भंछता है यहां-वहां सुबह से शाम तक
कि कोई दरवाजा खुले
कि खुले कोई खिड़की
कहीं से कोई कोमल सुर में पुकारे
सुन ओ खटबिनवा, बिन दे मेरी खटिया
कि कोई करे मोलभाव
कि लाख न नुकुर के बावजूद
वह दीवार के सहारे टिका ही दे साइकिल
जमीन पर ठोंक दे खूंटी
सुलझाने लगे बाध
छुड़ाने लगे घुमरी-लट
डालने लगे छकड़ी
चलाने लगे उंगलियां
इस पाए से उस पाए तक
आड़े-तिरछे बुने बटी मूंजों का मायाजाल
कि बसूले से ठोककर दुरुस्त कर दे चूलें

कस दे ओरदावन
कि सांसरो में भर दे पच्चड़
कि कहे
लो भइया खाट हो गई तैयार
कि एक लोटा पानी
आधा भेली गुड़
कोई रख दे उसके सामने कृतज्ञ भाव से
वह कर ले गला तर
फूल जाए उसका भी सीना गर्व से
पुरुखों की तरह...
लेकिन
अब कोई नहीं रहा
उसके हुनर का कद्रदान
बिल्कुल बेकार हो गया है वह
अर्थहीन/ अप्रसांगिक
हो चुका है उसका दावा कि
वह बिन सकता है ऐसी खाट कि
एक भी राई न गिरे नीचे
इतना मुलायम है उसका बाध कि
बिना दरी-चादर-लोई के भी
लेटते ही आ जाए गहरी नींद
कि
मिट जाए सारी थकान
कि दिखने लगे मीठे सपने...
कितनी निरर्थक / निराधार हो चुकी है
उसकी बातें कि
पूरे सूबे में
सुहागरात का सबसे शानदार पलंग
उसके पुरखे ही बनाते थे
बनाते थे उड़न खटोले / पाते थे आशीष
कि बहुत जस था उनके पुरखों के हाथ में
कि उनकी बिनी खाट पर सोने वाली
औरतों की गोद
कभी सूनी नहीं रही
कि न जाने कितने महान पुरुष
उसके पुरखों की बिनी खाट पर ही पैदा
हुए
उन्हीं के बनाए खटोले/ हिंडोले पर बड़े
हुए
चटुआ, धुनधुना खेलते हुए...!

एवा टोट : एक परिचय

जन्म : 1939 । हंगारी, फ्रांसीसी और स्पेनी साहित्य की अध्येता। अनेक वर्षों तक पत्रकारिता और अध्यापन से संबद्ध। हंगारी लेखक संघ की विदेश सचिव, अंतर्राष्ट्रीय अनुवादक संघ की परिषद सदस्य और काव्यानुवाद समिति की अध्यक्ष। 1959 से अब तक देश और विदेश की अनेक लब्धप्रतिष्ठ पत्र-पत्रिकाओं व संकलनों में कविताएं, कहानियां, निबंध और आलोचनात्मक लेख प्रकाशित।

एवा टोट की कविताओं में विषयों और शिल्प का वैविध्य है। वैयक्तिक अनुभूतियों, राजनीतिक समझ, व्यंग्यात्मकता, पौराणिक संदर्भ, सहजता और नारी की स्वतंत्रता व उसके अधिकारों के समर्थन से दीप्त है उनकी कविता। उनकी शैली में वार्तालाप की सहजता और मंत्रों की संक्षिप्तता तथा ऊर्जा है।



एवा टोट

टेरिसियास का विलाप

कुछ भी, पुरुषों का या स्त्रियों का,
मेरे लिए अनजाना नहीं है
मैं सह सकती हूं वह सब कुछ जो असह्य है
दुख भोगना सीमित है कल्पना असीम
जब चाहूं मैं बुला सकती हूं
बर्फ से ढकी पहाड़ियों को
झुलसी धरती वाले अपने स्वर्गों में से
किसी को भी
मैं चुप रह सकती थी
जैसा कि, मैं आमतौर पर करती हूं
क्योंकि मैं जानती हूं कि मेरी मुस्कान
हत्या कर सकती है चाकू की मानिंद
मगर मैं नहीं रहूंगी चुप
क्योंकि इससे क्या फायदा?
मेरा आसमान रौंद दिया गया है
यह तुम्हारी जिंदगी है
जिसे हर हाल में बदलना चाहिए
मैं जो हूं वही रहूंगी : अनुशासित, हताश!

डायरी के पन्नों से

बेकार हैं मेरे तमाम अनुभव
कोई जरूरत नहीं
याद रखने की
किसी एक को भी
करीब-करीब
मैं कुछ भी सीख सकती थी,
मगर क्यों?
सर्वज्ञता तक के मेरे टिकट की मियाद
खत्म हो रही है
अंतहीनता मरम्मत तलब है क्योंकि
इसका भी अंत होता है
मैं बैठती हूं अंधेरे कमरे में
सलाखों वाली खिड़की के पीछे
जो नहीं आने देती धूप
एक ही तसल्ली है मुझे :
अंधेरा फंसा हुआ है
रोशनी की तरह कहीं दूर नहीं जाता!

अजायबघर

अकेलेपन के अजायबघर में
गूँजने वाले कदम
लौटाए गए यादों के टुकड़े
उंगलियों के निशान
कांच के नीचे प्रदर्शित
तेज रोशनी में
धूल तक चमकती है
भित्तिचित्रों की मुखविहीन आकृतियां
पहचान से परे
टांगें और भुजाएं
कटी टांगों वाले चैंपियन धावक
फौरन कूच करने को तत्पर
पंखहीन फरिश्ते
वर्ग पहेलियों
समाधिलेख
पत्थर पर खुदे
मिटा दिए गए!

अनुवाद : विनोद शर्मा

एवा टोट की कविताएं

पार्थना

धरती
धरती मां
मैंने विश्राम किया तेरी घास पर, तेरी रेत पर
मैंने स्नान किया तेरे समुद्रों में
मैं चली पैदल तेरी सड़कों पर
उत्तर में, दक्षिण में, पूरब में, पश्चिम में
मैं भर चुकी हूँ उड़ान तेरे शिखरों के ऊपर
तू मेरा देश है
हो जाने दे मुझे अपनी धूल !

नदी तट

तट पर हमेशा वही पेड़
हमेशा वही सूर्यास्त
हमेशा जहाज पानी में
मगर फिजूल होगा मेरा उनमें जाना
धरती शायद जानी-पहचानी लगे
पानी के आरपार स्मृतियाँ नहीं होतीं
अगर मैं खुद को खोदूँ धरती में
तब भी मेरी जड़ें नहीं होंगी !

मूंगा

सागर जगाता है मुझे सागर सुलाता है
सागर की गहराइयों में रात,
सागर की लहरों के शिखरों पर भोर
कुहासे से ढके नीले तटों पर,
फेनिल सफेद झाग पर
चमकीले बादल जगमगाते हैं
आसमान की नीलिमा में
मैंने जाना सुख को, दुख मुझे जानता है
आजाद हूँ मैं परिदे-सी, मैं कड़े पहरों में
तूफानी सागर में बिखरकर
हो जाते हैं मेरे केश अस्त व्यस्त
शांत हो सागर तो,
सूर्य किरणों से चमक उठता है मेरा चेहरा

जल्दी ही बदल जाएगी मेरी जीवित देह
शव में
सागर के गहन मर्मर अंधकार से ढके
मैं टकटकी लगाकर देखती हूँ सागर को
न देखते, न जानते हुए
मेरे सफेद कंकाल पर उगे हुए हैं मूंगे के पेड़ !

गुरुवार की रात

इस हालत में मेरे कम हिम्मत साथी
गैस खोल लेते हैं
या कूद पड़ते हैं आठवीं मंजिल से
या फिर अगर
कुछ और बेहतर नहीं हो सकता तो
जिस भी पहली औरत से टकराते हैं
उसी के साथ सो लेते हैं
और अगर वे मादा हैं तो सो लेते हैं नुक्कड़
पर पुलिस वाले के साथ
स्वपीड़क चीर डालता है अपनी कलाई
रोगभ्रमी खा लेता है नीड की दो बोतल
गोलियां
परपीड़क लिखता है पत्र ताकि सब जान जाएं
कौन कसूरवार है इस सबका?
मैं लेटा रहता हूँ, अंधकार में आंखें खोले
प्रतीक्षा में कि होगा सूर्योदय
जो एक मात्र उद्धार है मेरा
और उन सबका भी, जो अयोग्य हैं !

गुमशुदा की तलाश

23 जून, 1980 की दोपहर में
या शायद उससे भी पहले
मैं गायब हो गई बिना कोई सुराग छोड़े
नाम : टोट एवा
जन्म : देब्रेसन में, 1939 में
पारिवारिक स्थिति : विवाहित
कद : 162 से.मी., आंखें : नीली,
बाल : सफेद होने लगे हैं

हालांकि पासपोर्ट के फार्म पर
मैं अब भी लिखती हूँ :
गोरे रंग और सुनहरे बालों वाली युवती,
जो मैं थी, बीस साल की उम्र में

आमतौर पर मेरे बाल छोटे कटे रहते हैं
कभी-कभी मैंने कोशिश की है
इन्हें बढ़ाकर लंबे करने की;
मैं अब कभी ऐसा नहीं करूंगी
गर्मियों में मुझे देखा जा सकता है पहने हुए :
सफेद नमूनों वाला
नीली छीट का लिबास, सफेद सैंडल
सर्दियों में-स्वेटर, स्कर्ट, कोट, दुशाला और
बूट
ऊंची एड़ियों वाले जूते-तभी
जब बिल्कुल जरूरी हों

सामान्यतः मैं चुप्पा हूँ, यारबाश
मैं हमला तभी करती हूँ जब उकसाई जाऊं
और तब भी हमेशा सही समय पर नहीं-
और न हमेशा सही व्यक्ति पर ही
कोई पहचान-चिह्न मेरे बदन पर
दिखाई नहीं देता
हाल ही में मुझे देखा गया है
जिग्लिगेट में, जिगेत्वर में, पेक्स में,
सिकोंडा में,
हवाना में हीलजेंडम में, मैड्रिड में,
बूडापेस्ट में,
अपने दफ्तर में, सुपर बाजार में,
डाक्टर के यहां सड़क पर,
अपने बेटे के स्कूल की बैठक में शामिल
चर्च में, सागर तट पर, कब्रिस्तान में
फिर भी असमर्थ हूँ मैं खुद को ढूँढ पाने में
अगर आपको मेरे बारे में कोई खबर मिले
तो मेहरबानी करके मुझे सूचना दें !

जापानी कविता

जितना ज्यादा वे मुझे घोरते हैं
उतना ही ज्यादा हो जाता है मेरा अकंलापन
तारे-हालांकि चांद के रिश्तेदार हैं-
नहीं दे पाएंगे उसे कभी सच्ची सांत्वना !

और वैज्ञानिक विकास के द्वारा हमारी दुनियावी समझ में मूलभूत परिवर्तन हुए हैं।

इलेक्ट्रॉनिक मीडिया के आगमन ने भी हमारी विचार दृष्टि को प्रभावित किया जिसके फलस्वरूप अब हमारी रुचि चरित्रों के सर्वजनीन होने से ज्यादा उनकी विशिष्टता दर्शाने और उनके वैयक्तिक जीवन में ज्यादा हो चली। ये उपन्यास भी इसी वृत्ति के परिचायक हैं, जिसके फलस्वरूप तटस्थता और निर्वैयक्तिकता जैसे शब्द, जो लेखन का मूलभूत तत्व माने जाते थे, आज परे हो चले हैं।

इन सारे उपन्यासों की क्रमवार चर्चा के क्रम में उद्देश्य किसी को छोटा या बड़ा, कम या कमतर साबित करना नहीं बल्कि पत्रकारिता जगत के अंतर्सत्य का सर्वेक्षण है, मानव जीवन में आए आदर्शों के हास, मूल्यों के प्रति विकर्षण को रेखांकित करना है। ये सारे उपन्यास समय के साथ आए परिवर्तनों के सापेक्ष, चलते दिखते हैं, अतीत और वर्तमान के मध्य के समयांतराल के मध्य उपजे मूल्य-परिवर्तन, आस्था और विश्वास के बदलते स्वरूप, जीने के लिए किए गए समझौते और पत्रकारिता जगत की तमाम विद्रूपताओं को उभारकर सामने लाने के साथ-साथ इस पेशे की मजबूरियाँ, इसके नैतिक-अनैतिक पक्ष, रुपहले और दंभी रूप के साथ इसकी निष्कृष्टताओं और कमजोरियों को भी हमारे समाने ला उपस्थित करते हैं, जिससे यह प्रमाणित होता है कि कोई भी सत्य समय सापेक्ष होता है अतः मानव-जीवन और समाज में हुई प्रगति के साथ-साथ आई तमाम बुराइयों का असर इस पेशे पर भी हुआ और इसका स्वरूप भी बदला है।

सवाल यह भी उठता है कि जब न्यायिक पेशा पहले जैसा नहीं रहा, जब चिकित्सा का पेशा- जो गरीबों और आम लोगों की जिंदगी से जुड़ा है- आज वैसा नहीं रहा, तो फिर एक पत्रकारिता के पेशे से ही यह अपेक्षा क्यों की जाए कि वह दूध का धुला हो? पर कोशिश तो यह होनी ही चाहिए कि हम अपने जीवन को भी विनष्ट न होने दें, न पूर्णतया मूल्यों से ही मोड़ें। समझौते किए जा सकते हैं पर उससे पहले एक सीमा, निर्धारित कर लें कि यह किस सीमा तक हो। यह बीच का रास्ता है, कठिन होते हुए भी जो नामुमकिन नहीं। मूलरूप में ये उपन्यास मूल्यों की लड़ाई लड़ते दिख पड़ते हैं।

कथा-सर्कस के कई पात्र यथा मलहोत्रा साहब, नीरज, सुमंत, बसंतदेव, मालविका अपने-अपने अभिव्यक्ति के माध्यमों के द्वारा चाहे वह चित्रकला, हो या नाटक या फिर लेखन- मूल्यों की इसी लड़ाई से जुड़े दिखते हैं। लेकिन दरवाजा तो लेखन और पत्रकारिता को विषय रूप में उठाने के बावजूद पूर्णतः मानवीय मूल्यों के प्रश्नों पर विचार करता दिखता है पर बीच के रास्ते की तलाश में कथा-सर्कस के कई पात्र भी दिखाई पड़ते हैं। गुजर क्यों नहीं जाता के नायक सांभेंद्र की कोशिश भी कुछ ऐसी ही है पर उसके व्यक्तित्व में आ धुली क्रूरता और हृदयहीनता उसकी इस कोशिश के महत्व को धुंधलाती है।

ध्यान देने योग्य बात यह है कि ये दोनों उपन्यास इस कड़ी के सबसे नवीनतम उपन्यास हैं जो जीवन की व्यावहारिकता और आदर्श के बीच एक पुल बनाने की कोशिश में लगे दिखते हैं। लेकिन दरवाजा से लेकर गुजर क्यों नहीं जाता के बीच की गई यह खांज लंबे विचार-संघर्ष की उपलब्धि है, एक विकास यात्रा है। □

तीन कविताएं : कुंदन कुमार 'लक्की'

डायरी

एक

खिड़कियों से झांकती सुबह
सागरों में डूबती शाम
और जिंदगियों में मरता दिन
मेरे हर एक पल का हिसाब
रखा है तुमने

दो

फाइलों पर घिसती कलम
अभावों में पिसती कसम
और शून्य को वेधती आंखें
मेरी हर विवशता को करीब से
देखा है तुमने

सृष्टि

शून्य और शून्य का जोड़
शून्य ही होता आया है
और शून्य ही होता था
कल तक;
लेकिन, मेरे शून्य को भरकर
तुम्हारे शून्य ने
एक अनंत की सृष्टि की है

पेंडुलम

मेरे मौन की भाषा
शायद समझ सको तुम
और तनहा सन्नाटों का शोर
थम सके तुम्हारी बातों से
इसी आशा में
बार-बार आता हूँ
और फिर, ऐसे ही
हर बार की तरह
लौट आता हूँ मैं!

पत्रकारिता को यों व्याख्यापित करता है- 'हिंदी में काहे की पत्रकारिता, काहे की फ्री-लांसिंग! आप दिन-रात बैठकर जो लिखें उससे दो सूखी रोटी भी नहीं खा सकते। अपने नंग को ढकने की कोशिश है, बस.... आज जो नौकरी मुझे मिल जाए मैं करूंगा... बस पेट भरने को रोटी और पहनने का कपड़ा मिलता रहे।'

एक और तथ्य यहां स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है कि कोई भी लेखक (मूल रूप से साहित्यकार) पत्रकारिता के पेशे को एक मजबूरी के रूप में ही अपनाता है। चूंकि वह विशुद्ध लेखन करके निर्द्वंद्व होकर जी नहीं सकता, दो वक्त की रोटी के भी लाले पड़ सकते हैं अतः उसे अपनी आत्मा की आवाज को दबाते हुए यह समझौता करना ही पड़ता है। वह जानता है कि ऐसा करके वह सिर्फ अपनी सृजनात्मक ऊर्जा को विनष्ट कर रहा है, कल को उसका मूल्य उसकी रचनाओं से ही आंका जाएगा, यह सारा निर्थक ही होगा परंतु जीने के लिए न चाहते हुए भी उसे यह सब करना होता है। इस बेचैनी को भी सारे उपन्यास स्पष्ट रूप से आवाज देते दिखते हैं।

लेकिन दरवाजा के दो पात्र- देवेन और नीलांबर और यह जो दिल्ली है के मुख्य पात्र सत्यकाम की बेचैनी की वजह यही त्रासदी है। नीलांबर जहां अपनी प्रत्यास्थ-चरित्रता के कारण समाज में सम्मानित स्थिति पाने के बावजूद अपने अंदर के लेखक के घुट-घुटकर मरने से विचलित और व्यथित है, यह बेचैनी उसे इस तरह हांट किए रहती है कि अंततः वह आत्महत्या के कगार पर खड़ा दिखाई देता है तो देवेन अपने भोलेपन, निश्छलता और ईमानदारी के कारण पत्रकारिता जगत और दिल्ली के छल-छद्म से चौंधियाया; 'स्व' के इस दुनिया में मिसफिट होने की पीड़ा को लिए मनोरोगी हो जाता है। सत्यकाम (यह जो दिल्ली है) अपने आदर्श और चरित्र से समझौता न करने के कारण अंततः दिल्ली छोड़कर चल पड़ता है। अवमानना, तुच्छताबोध और अपमान के गरल को पीते ये पात्र बहुत ही परिचित और अपने लगने के साथ-साथ पत्रकारिता जगत के भयानक परिदृश्यों के साक्ष्य और दस्तावेज की तरह हमारे सामने उपस्थित होते हैं।

गुजर क्यों नहीं जाता न सिर्फ इस शृंखला का अंतिम और ताजातरीन (1997) पुस्तक है वरन किन्हीं अर्थों में इसकी संवेदनात्मक भूमि भी भिन्न ही कहीं जाएगी। यह उपन्यास वर्तमान पत्रकारिता जगत का आईना है। धीरे-धीरे अस्थाना इस पुस्तक को न सिर्फ आत्मकथात्मक शैली में लिखते हैं वरन नायक, पात्रों, पत्रिकाओं और अखबारों तक के नाम में इतना बारीक-सा परिवर्तन करते हैं कि उनकी पहचान समग्र रूप में पहचानी जा सके। इस पुस्तक का नायक सोमेंद्र बारह वर्षों से परिचित दिल्ली और पत्रकारिता की दुनिया को उन चंद बेकारी के दिनों में अपने असली स्वरूपों में देख पाता है जब उसको नौकरी छूट जाती है। वह जानता है कि यह सब एक साजिश के तहत हुआ था। घर में पार्टियों के अवसर पर जमावड़ा लगाने वाले मित्रों का अचानक मुंह छिपाए फिरना, वरद हस्तों का सिर से उठ जाना आदि उसे ऐसा महसूस करवाते हैं जैसे लू के मौसम में पेड़ भी अपनी छाया देने से इंकार करने लगें हों, पर इस सब से जूझता बेकारी और भुखमरी के दिनों को पार करता हुआ वह मुंबई पहुंचता है और अंततः परिस्थितियों को अपने अनुकूल भी बना लेता है।

सोमेंद्र जब पहली बार हवाई यात्रा पर होता है तो हवाई जहाज के टॉयलेट में हुई दुर्घटना को याद कर उसकी आंखें छलछला उठती हैं। यहां वह एक संवेदनशील पत्रकार और मनुष्य के रूप में हमारे सामने आता है परंतु संपूर्ण उपन्यास उसकी जिस छवि को सबसे ज्यादा कमजोर बनाता है, वह भी उसका यही रूप है। उपन्यास के उत्तरार्द्ध में वह मुंबई हिंदी फिल्मों के नायकों की तरह बदला लेने पर उतारू हिंस्र-पशु-रूप में हमारे सामने उपस्थित होता है। न सिर्फ नायक का आत्मवादी व्यक्तित्व वरन इस उपन्यास के लिखे जाने के पीछे काम करनेवाली मुख्य भावना भी यही बदले की भावना लगती है। सोमेंद्र का 'मैं' (आत्मकेंद्रित 'मैं') उसके साहित्यकार, पत्रकार और मनुष्य रूप पर हावी होता दिखता है। इसका एक बड़ा कारण यह भी है कि इस लंबे अंतराल में दुनिया बदली है, लोगों के सोचने का ढंग बदला है। यह परिवर्तन नकारात्मक हो या सकारात्मक, पर समय की मांग और तत्कालीन परिवेश की उपयुक्तता की कसौटी भी है।

लेकिन दरवाजा जब प्रकाशित हुआ था तब पत्रकारिता के क्षेत्र पर मंडराते काले बादलों के साए इतने गहरे नहीं थे पर जितने गहरे थे और भविष्य में उनके जितने गहराने की आशंका थी। पंकज बिष्ट सबसे जूझते नजर आते हैं। प्रकाश मनु के उपन्यास जब आए तब तक यह समस्या अपना घनघोर रूप इख्तियार कर चुकी थी और उन्होंने अपने उपन्यासों के द्वारा बेबाकी भरे बयान दिए। यह जो दिल्ली है का अंत हमें झकझोरता है। सत्यकाम अंततः पत्रकारिता क्षेत्र की राजनीति से हारकर गया है, छली-फरेबियों से हारकर। सोमेंद्र (गुजर क्यों नहीं जाता) भागता तो है पर उस योद्धा की तरह जो क्षण भर को भले ही पीठ दिखाकर भागता लगे, पर उस भागने के मूल में भी एक रणनीति है। सोमेंद्र गया तो है पर पुनः लौटकर जबाबी प्रहार करने के लिए, शक्ति बटोरने के लिए, जीतने के लिए, बुराइयों से लड़ने के लिए थोड़ा बुरा होने भी। क्योंकि वह जानता है कि अंततः जहर ही जहर को काटता है। यही कारण है कि वह हमें कुछ क्रूर, कुछ आत्मवादी, अमानवीय और अहंवादी लगता है पर यह आज के जीवन और मनुष्य का सच है। कोरे आदर्श के जरिये जीना आज सबसे अधिक कठिन हो चला है। यह यात्रा हारे हुए मनुष्य की विकासयात्रा है जो जीने के लिए अपनी संवेदना तक की बलि चढ़ा देता है।

किसी खूबसूरत लड़की को 'श्रीराम सेंटर' में देखकर इनकी आपस की यह गुफ्तगू कि अगर यह एक्ट्रेस है तो किसके हथिये चढ़ेगी और अगर पेंटर है तो कौन बड़ा पेंटर इसे पेंट करेगा- तथाकथित प्रबुद्ध लोगों के आपसी बातचीत के भोंड़े स्तर और उसके द्वारा उनके मानसिक दिवालियापन को द्योतित तो करती ही है, साथ ही उनकी इस ईर्ष्यालु प्रवृत्ति को भी कि 'क्या हिंदी पत्रकारिता का क्षेत्र इतना अनाकर्षक है कि यहां सूखी और निस्तेज लड़कियां ही आती हैं।' प्रश्न यह भी हो सकता था कि क्या यहां की दिनचर्या इतनी थका देने वाली और नीरस है कि इन लड़कियों की सारी ऊष्मा, रस और सौंदर्य को अवशोषित कर लेती है।

लेकिन दरवाजा को छोड़ दें तो ये सारे उपन्यास आत्मकथात्मक शैली के बाने में हमारे सामने उपस्थित होते हैं। इसका एक मुख्य कारण आज का बदलता हुआ यथार्थ है। घटनाक्रम पहले की अपेक्षा कई गुना तेज हो चले हैं, तकनीकी

हुए मूल्यों और संवेदनाओं के संकट की बात उठाते हैं, यह प्रश्न भी कि हम इन सवालियों से कब तक अपना पीछा छुड़ाते रहेंगे।

सबसे पहली चर्चा *लेकिन दरवाजा* पर। 1982 में प्रकाशित यह पुस्तक इस शृंखला की पहली कड़ी कही जा सकती है। (हालांकि 1963 में प्रकाशित मोहन राकेश कृत *अंधेरे बंद कमरे* में पत्रकारिता जगत के कई परिदृश्य उसके पात्र मधुसूदन के द्वारा हमारे सामने उपस्थित होते हैं पर उपन्यास का मूल कथ्य अन्य समस्या पर आधारित होने के कारण यह इस श्रेणी का पहला उपन्यास नहीं कहा जा सकता।) इस उपन्यास को जागरूक पाठकों ने काफी सराहा और मान्यता दी। स्वातंत्र्योत्तर हिंदी उपन्यासों में इसका एक महत्वपूर्ण स्थान है। यह उपन्यास विषयवस्तु के नएपन और कथ्य पर गहरी पकड़ के साथ-साथ अन्वेषणशीलता और तटस्थता का अद्भुत समागम लिए हमारे समाने उपस्थित होती है।

पंकज बिष्ट पत्रकारिता जगत की दुखती रंगों पर बहुत हौले-हौले हाथ फिराते दिखते हैं। 'युवा लेखक' कहाए जाने पर वह व्यंग्य करते हैं : 'चिर युवा वह होता है, जो अंदर से सड़ चुका है, जैसे किसी का आधे में ही विकास रुक जाए।' 'हरेक विधा की अपनी एक भाषा होती है... उसकी अपनी सीमाएं होती हैं... क्या कोई भी कला, विधा अपने आप में एक अलग द्वीप है ?' ये कुछ ऐसे प्रश्न हैं जिनसे हर जागरूक लेखक को जूझना पड़ता है। अपने चुक जाने की पीड़ा, कुछ नया और सर्जनात्मक न कर पाने का द्वंद्व अगर न हो तो लेखन भी न हो, यही चिर-सत्य है। परंतु सबसे बड़ा दुख यह होता है कि जब हम बहुत कुछ करना चाहते हों, हमारे हाथ बंधे पड़े हों, हम जिस व्यवस्था से लड़ना चाहते हों उसी में बंधकर जीना बहुत बड़ी त्रासदी है। सब कुछ जान-बूझकर भी कुछ भी न कर पाने की मजबूरी आत्मग्लानि और नैतिक अपराधबोध को जन्म देती है। ... 'आप जानते हैं कि अनर्थ हो रहा है, पर कुछ नहीं कर सकते.... नीतिनिर्धारण में आप कुछ भी नहीं हैं, फिर भी एक नैतिक जिम्मेदारी है। आपकी संवेदनशीलता, आपका ज्ञान, आपकी सजगता आपके लिए पीड़ा है।' सबसे दुखद स्थिति तो यह है कि यहां हर चीज की एक तयशुदा कीमत है, प्रतिभा की भी, यह सत्य हृदय झकझोरने वाला है।

लेकिन दरवाजा के ठीक दस वर्ष बाद 1992 में शरद देवड़ा *आकाश : एक आपबीती* हमारे सामने आता है। पंकज बिष्ट जहां पत्रकारिता और साहित्य-जगत से संबंधित संकट को बीजरूप में इस्तेमाल करते हुए मूल में मानवीय-मूल्यों के और जिंदगी के कुछ दुरूह हो चलने की बात उठाते हैं, वहां शरद देवड़ा अपने आत्मकथात्मक उपन्यास के माध्यम से लेखन-जगत के अंतर्सृत्यों को टटोलने के बजाय आत्ममुग्धता के समुद्र में डुबकी लगाते दिखते हैं (अगर अंत को छोड़े दें, तो)।

इन्हीं प्रश्नों का विस्तारण लेकर प्रकाश मनु कृत *यह जो दिल्ली है* (1993) और *कथा-सर्कस* (1995) हमारे सामने उपस्थित होते हैं। इन उपन्यासों के नायक सत्यकाम और सुधाकर *लेकिन दरवाजा* के देवेन भंडारी के चरित्र का विकास लगते हैं। सत्यकाम के चरित्र की विशेषता यह है कि वह समझौता करना नहीं जानता, चाहे अपने उसूलों की लड़ाई में उसे बिल्कुल अकेला ही क्यों न हो जाना पड़े। इनसे हिलना उसके स्वभाव के विपरीत है। पत्रकारिता सत्यकाम के लिए एक आदर्श है। 'घर-घर देखा, एकके लेखा' की तर्ज पर

वह यह कहता दिखता है कि स्थिति सभी जगह एक जैसी ही है। कहीं पत्रकारों की आजादी या स्वतंत्रता का ढोंग भले मिल जाए पर हर जगह उगते हुए परो को कतरने वाली कैचियां मौजूद हैं, जो उड़ानों पर काबू पाना जानती हैं, जिनके लिए स्वच्छंद विचरण और स्वतंत्रता जैसे शब्द शब्दकोश में हैं ही नहीं। हर जगह प्रतिभा को गुलाम बनाने की, कुंद करने की साजिश है और जी-हजूर दरबारबाजी को प्रश्रय। खुद लेखक के ही शब्दों में 'यहां स्वतंत्रता भी बाघ की मर्जी से उसके गुफा में रहने जैसा है।' और 'राजधानी प्रेस कोई एक नहीं है, दिल्ली में जिधर देखो कोई-न-कोई राजधानी प्रेस किसी-न-किसी करवट पर मिल जाएगी...' हर पत्रकार चाहे वह कहीं भी हों, किसी भी जगह दरअसल राजधानी प्रेस से राजधानी प्रेस तक की यात्रा कर रहा होता है।

कथा-सर्कस में भी इन्हीं सारी बातों का दुहराव एक वृहत्तर स्तर पर होता दिखता है। इस कथा के तीन आयाम हैं- एक जो लेखक के आस-पास घटित हो रहा है- दूसरा लेखक की निजी दृष्टि के रूप में उसके आत्मसंघर्ष और लिखने के नशे को व्याख्यायित करता हुआ, तीसरा- जिस कलेवर में वह हमारे सामने उपस्थित होता है। सवा छह : सौ पन्नों का यह उपन्यास विभिन्न चरित्रों के माध्यम से (यथा सुधाकर, जीतेन बाबू, मनोहर, सदाशिव और उष्ण के माध्यम से) लेखन के संकट, उसकी गरिमा, उसके सुख, उसके तनाव और वर्तमान समय में लिखकर और सिर्फ लिखकर भी जिंदा रह सकने के रास्ते ही खोज है। नई पीढ़ी का प्रतिनिधित्व करते कुछ पात्र (यथा मनोहर, सदाशिव के) थोड़े से समझौते के साथ अपने जुझारूपन को भी बरकरार रखने की कोशिश में दिख पड़ते हैं। सदाशिव विद्याधर की मृत्यु के पश्चात उसके छूटे हुए कामों को लेकर आगे बढ़ना चाहता है, मगर उतना ज्यादा रिस्क लिए बिना। असल में विद्याधर जहां मारा गया, वह वहां जीतकर दिखाना चाहता है।

हरेक पेशे की तरह इस पेशे में आए स्खलन ने किसी ईमानदार और आदर्शवादी व्यक्ति का जीना कितना मुहाल कर रखा है, यह सारे उपन्यासों के पठन के क्रम में उभरकर हमारे सामने आता है। सिर्फ इतना भर ही नहीं, एक ईमानदार पत्रकार कितने स्तरों पर जूझता और टूटता है यह भी हम इस क्रम में जान पाते हैं; नौकरी के दबाव अलग होते हैं और पारिवारिक द्वंद्व अलग। नीलांबर (*लेकिन दरवाजा* के एक पात्र) की स्थिति अपनी पत्नी सुमन की नजर में इसलिए तुच्छ है कि वह लेखक है, वहीं नीलांजना (सत्यकाम की पत्नी; *यह जो दिल्ली है*) की आंखों के कोड़े उस पर इसलिए बेलहाज बरसते हैं क्योंकि वह एक मामूली पत्रकार है और अन्य लोगों की तरह उसे सारी सुख-सुविधाएं मुहैया कराने में असमर्थ है। सोमेंद्र (*गुजर क्यों नहीं जाता* का नायक) अपनी नौकरी छूटने पर दो जून की रोटियों के लिए अपनी पत्नी के सारे गहने बेच डालता है और बात जब तब भी नहीं बन पाती तो पत्नी लतिका का सिलाई का काम शुरू करना, *कथा-सर्कस* की नायिका माया को गृहस्थी को बनाए रखने की कोशिश में छीजते जाना और जीतेन बाबू से उनकी पुत्री का घृणापूर्ण व्यवहार इसी सिक्के के दूसरे पहलू हैं।

प्रख्यात कवि-पत्रकार रघुवीर सहाय ने कहा है- 'स्वतंत्र पत्रकारिता स्वतंत्र कम, संघर्षरत पत्रकारिता अधिक है।' और कहीं-न-कहीं इन चरित्रों का संघर्ष इस कठोर सत्य की पुष्टि करता दिखता है। *कथा-सर्कस* का एक पात्र अवनींद्र अपने कटु अनुभवों के आधार पर 'फ्री-लान्सिंग' अर्थात् स्वतंत्र

पत्रकारिता का सच और उपन्यास

उपन्यास अपने समय और समाज का प्रामाणिक चित्र होता है। यह जीवन की कमियों की आलोचना है। पत्रकारिता को केंद्र में रखकर लिखे गए उपन्यास समय के साथ आए परिवर्तनों के सापेक्ष चलते दिखते हैं, अतीत और वर्तमान के मध्य के समयांतराल के मध्य उपजे मूल्य-परिवर्तन, आस्था और विश्वास के बदलते स्वरूप, जीने के लिए किए गए समझौते और पत्रकारिता जगत की तमाम विदूषताओं को उभारकर सामने लाने के साथ-साथ इस पेशे की मजबूरियां, इसके नैतिक-अनैतिक पक्ष, रुपहले और दंभी रूप के साथ इसकी निकृष्टताओं और कमजोरियों को भी हमारे सामने ला उपस्थित करते हैं। पत्रकारिता को आधार बनाकर लिखे गए उपन्यासों पर चर्चा कर रही हैं कविता

उपन्यास कला अपने आरंभ से लेकर आज तक मूल्यों और नैतिकताओं का सवाल उठाती रही है, यह अपने समय और समाज का प्रामाणिक चित्र होता है। यह जीवन के कमियों की आलोचना है। इसमें भावनाओं का सत्य और जीवन का सही-सही आकलन आदि कुछ ऐसे तत्व समाहित होते हैं जो न इसे सिर्फ कविता और कहानी जैसी विधाओं से अलग करते हैं, बल्कि बड़ा भी साबित करते हैं— उन अर्थों में बड़ा और अलग जिससे इसे जीवन के महाकाव्य की संज्ञा दी जा सके। उपन्यास के कुछ इन्हीं खास पक्षों से उत्प्रेरित होकर यह उपन्यासों के आईनों में पत्रकारिता जगत के वर्तमान-सत्य का सर्वेक्षण किया गया है।

पत्रकारिता, जिसे लोकतंत्र का चौथा खंभा माना जाता है, एक ऐसा पेशा है जो सत्य और न्याय से जुड़ा है, जो आम लोगों की आवाज है, जो उनकी समस्याओं और रोजमर्रा की जिंदगी से संबद्ध है। पत्रकारिता ने स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद से लेकर आज तक के समय में न जाने कितनी चुनौतियां झेलीं, कितने स्वरूप बदले परंतु आज आम व्यवसायों की तरह इसके पैमाने और मापदंड तक बदल चुके हैं पत्रकारिता के अंतर्जगत और अंतर्संक्त्यों से वाकिफ होने के लिए आज हम कुछ उपन्यासों— लेकिन दरवाजा (पंकज बिष्ट), आकाश : एक आपबीती (शरद देवड़ा), यह जो दिल्ली है तथा कथा-सर्कस (प्रकाश मनु) और गुजर क्यों नहीं जाता (धीरेन्द्र अस्थाना)— से साक्षात्कार करते हैं— हालांकि इसी विषय पर कई और उपन्यास वायदा माफ गवाह (अशोक अग्रवाल), पहिए (द्वारिका प्रसाद मित्र), शब्द वध (वीरेंद्र जैन) और हलाहल (धीरेन्द्र अस्थाना) भी लिखे गए परंतु प्रामाणिकता और मानक रूप को ध्यान में रखते हुए विस्तृत चर्चा का केंद्र उपर्युक्त पांचों उपन्यास ही हैं। ये सारे उपन्यास अपने अलग-अलग ढंग से अंदाजे-बयां के बावजूद एक ही प्रश्न और एक ही स्थिति (इस पेशे में आए बदलाव, इसकी मजबूरियां, परिवेश और बदलते मानदंडों) से जूझते दिखते हैं। सवाल यह भी उठता है कि उपन्यासों के द्वारा ही इस सत्य का सर्वेक्षण क्यों?

एक आम धारणा है कि साहित्यकार और पत्रकार अति-संवेदनशील प्रकृति के होते हैं, उनका एकमात्र धर्म इंसानियत होता है, पर समय के साथ-साथ इन मनः स्थितियों में आए बदलाव का आकलन भी इन पुस्तकों के द्वारा संभव हो पाया है। पत्रकारिता जगत के उन अंतर्संक्त्यों को ये उपन्यास हमारे सामने खोलकर रखते हैं जो अब तक ढके-छुपे थे। चेहरों के भीतर जो चेहरे छिपे हैं— हैरतअंगेज और अमानवीय, इनके माध्यम से उनका खुलासा हमारे सामने उपस्थित हो पाता है। अन्य क्षेत्रों की तरह इस क्षेत्र में भी उपज आई टांग-खींचू राजनीति, फ्राड और धोखाधड़ी, श्वेत-रूपों में सामने उपस्थित लोगों के भीतर की कालिमा और पत्रकारों की त्रासदी (वैसे पत्रकारों की, जो तत्कालीन परिवेश में भी पत्रकारिता को एक मिशन मानते हैं उसके 'प्रोफेशन' और इस हद से भी गुजरकर आज 'सेसेशन' में बदल जाने को नहीं स्वीकारते) को बेबाकी के साथ उजागर करते हैं।

केवल एक उपन्यास आकाश : एक आपबीती को छोड़ दें तो (जिसकी पृष्ठभूमि कलकत्ता है) पत्रकारिता क्षेत्र के साथ-साथ इन उपन्यासों की विषयवस्तु के केंद्र में दिल्ली भी है। चूंकि दिल्ली देश की राजधानी होने के कारण स्वतंत्रता प्राप्ति (बल्कि इससे पूर्व) से साहित्य और पत्रकारिता का केंद्रस्थली रही है इसलिए ऐसा सहज स्वाभाविक है। पत्रकारिता जगत के अंतर्द्वंद्वों के साथ-साथ दिल्ली के अति महत्वाकांक्षी रूप, इसके सम्मोहन, विषमताओं और इस महत्वाकांक्षा की होड़ में सहज संबंधों और इंसानियत जैसे मूल्यों के पीछे छूट चलने की बात को भी सामने रखते हैं।

जब हम स्वतंत्र नहीं थे तो पत्रकारिता के क्षेत्र में आए लोगों को फाकाकशी का भय दिखाया जाता था। अब जबकि हम स्वतंत्र हैं, यह भय दिखाया जाता है कि इसका संसार दूसरा है, निरे आदर्शवादियों की यहां 'आवश्यकता नहीं है।' पत्रकारिता क्या थी, क्या है और क्या होना चाहिए, के सवाल से हम इन उपन्यासों के माध्यम से सीधा साक्षात्कार करते हैं। दो दशक के मध्य आए उपन्यास पत्रकारिता के क्षेत्र में आए परिवर्तन से जूझते

समाज पर साहित्य का प्रभाव इस बात पर निर्भर करता है उस समाज का व्यक्ति समाज, संस्कृति व जीवन के प्रति क्या दृष्टिकोण रखता है। फिलहाल यह तो कहा ही जा सकता है कि साहित्य का समाज पर प्रभाव लगातार कम होता जा रहा है। संचार क्रांति के चलते लोगों में पुस्तक पढ़ने की आदत कम होती जा रही है। दूसरी ओर यह भी कहना पड़ेगा कि साहित्य का समाज पूरा समाज नहीं होता। जो समाज भाषा की बारीकियों तक जाता है वह साहित्य का समाज होता है।

साहित्य और समाज में गिरते मूल्यों पर आपके क्या विचार हैं?

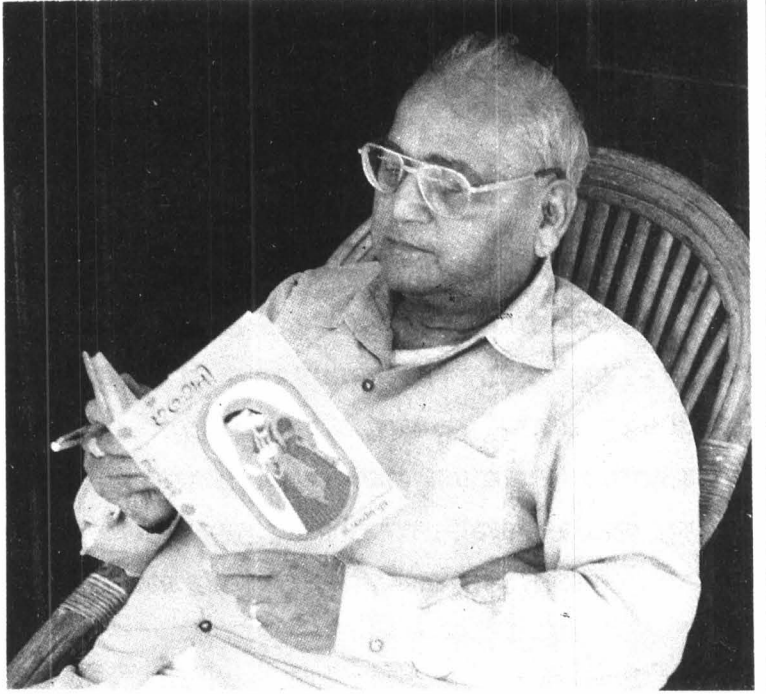
स्वतंत्रता की लड़ाई के दौरान एक अद्वितीय प्रेरणा कार्य कर रही थी, जिसमें उत्सर्ग और बलिदान की भावना सर्वोपरि थी। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद वह स्थिति नहीं रही। कुछ लोगों का कहना है कि ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में विवश होकर अंग्रेजों को स्वतंत्रता देनी पड़ी, किंतु औपनिवेशिकता आज भी भारतीय जनमानस में समाप्त नहीं हुई। यह विडंबना नहीं तो और क्या है कि राष्ट्रभाषा के स्थान पर हिंदी को राजभाषा का रूप प्राप्त हुआ और वह भी 14 सितंबर की औपचारिकता के साथ। देश उत्तरोत्तर विडंबनाओं से ग्रस्त होता आ रहा है। गरीबी की रेखा की चिंता तो बहुतों को है किंतु उच्च वर्ग उसे बनाए रखने में ही अपना हित समझता है। वास्तव में आज की मानसिकता खंडित मानसिकता है और इसी के चलते ही मेरा नया कविता संग्रह *आक्रोश* के पंजे उत्पन्न हुआ है। वास्तविकता तो यह है कि पहले आक्रोश विदेशियों के प्रति था और अब आक्रोश अपने ही लोगों के प्रति है। ये सारी स्थितियां असाधारण हैं। साहित्य और कला अपने को नई तरह से परिभाषित करने को बाध्य हैं।

इधर कुछ वर्षों में 'चरित्र हनन' का आरोप सहने वाली रचनाओं का सृजन अधिक हुआ है। इसे आप किस रूप में देखते हैं?

साहित्य का सौंदर्यबोध एक आंतरिक विवेक से परिचालित होता है, जिसमें शिव और अशिव दोनों की पहचान होती है। सौंदर्य की धारणा सत्य पर आधारित है लेकिन फिर भी शिव की चिंता करना मात्र ही अशिव से मुक्ति का रास्ता नहीं है। वास्तविकता तो यह है कि जीवन में समग्रता किसी बड़े साहित्य में प्रेरणादायक होती है और साहित्यकार की विवेकशीलता इसी से पहचानी जाती है।

रचनाकर्म से जुड़े संगठनों पर आपके क्या विचार हैं?

सच तो यह है कि रचना कर्म से जुड़े संगठनों में विघटन अधिक है, संगठन कम। जितनी संस्थाएं हैं, उनका विकास गोष्ठियों में तो मिल जाता है लेकिन बाहर अजीब-से खालीपन का शिकार हैं ये संस्थाएं। वास्तव में साहित्य मुक्त एवं स्वातंत्र्य भाव से होना चाहिए। हम लोगों ने 'परिमल' संस्था गठन करके इसी भाव को महत्व दिया। यहां मैं यह कहना जरूरी समझता हूं कि 'परिमल' खत्म नहीं हुआ, हमने खत्म किया उसे। मैं हमेशा यह कहता हूं कि फूल खिलते-खिलते मुरझाने लगता है तो उसे रखने का कोई औचित्य नहीं रह जाता।



अध्ययन में व्यस्त जगदीश गुप्त फोटो : रंजन मिश्र

नई कविता आंदोलन में आपने अग्रणी भूमिका निभाई। इस संदर्भ में भी कुछ बताइए...

निराला जी कविता को सनयन कहते थे और यह बात मेरे मन को गहराई से स्पर्श करती थी। कविता केवल सुनने की वस्तु नहीं है, देखने की भी वस्तु है। 'नई कविता' में मैंने इस बात को ध्यान में रखकर बिंब विधान पर विशेष बल दिया, ठीक वैसे ही जैसे छायावाद में प्रतीकों को केंद्र में माना गया। मेरा स्वभाव कविता को नए-पुराने रूप में विखंडित करने का कभी नहीं रहा।

'नई कविता' को ध्यान में रखकर मैंने पुस्तक भी प्रकाशित की। 'नई कविता' का पहला अंक सन 54 में प्रकाशित हुआ और आठवां सन 67 में। कवियों का इतना अदृश्य सहयोग मिला कि मैं स्वयं चकित था। नई कविता के लिए मुझे नया सौंदर्यशास्त्र रचना पड़ा क्योंकि नये शब्द की परिभाषा नए रूप में करने का आग्रह था। 'न्यू पोयट्री' की पाश्चात्य धारणा ठीक वैसी नहीं थी जैसी कि 'नई कविता' में आई। भारतेंदु से लेकर मैथिलीशरण गुप्त तक और फिर गुप्त जी से लेकर अज्ञेय तक, दृष्टियां बदलती रहीं। *तार सप्तक* के चार संकलन हिंदी कविता के ऐतिहासिक दस्तावेज हैं। *त्रयी* के रूप में मैंने भी तीन संकलन प्रकाशित किए और चौथा-पांचवां आगे आने को हैं।

नई पीढ़ी के प्रति आप कितने आशावान हैं?

मुझे नई पीढ़ी से बहुत अधिक आशाएं हैं। वास्तव में हर कवि पुरातन को देखता है किंतु अपनी वाणी की सार्थकता भविष्य में पहचानता है। काल की चेतना अखंड होती है नहीं तो साहित्य की लयात्मकता खंडित हो जाती है। □

"जीवन में समग्रता किसी बड़े साहित्य की प्रेरणा होती है !"

कवि-चित्रकार जगदीश गुप्त से धनंजय चोपड़ा की बातचीत

कवि व चित्रकार जगदीश गुप्त भले ही अपने जीवन के पचहत्तर वर्ष पूरे करने जा रहे हों, पर अपनी संवेदनाओं को व्यक्त करने का एक भी अवसर नहीं गंवाना चाहते। वह आज भी उतने ही सक्रिय हैं जितने अपने युवा दिनों में थे।

जगदीश गुप्त ने कविता का संस्कार यदि माखनलाल चतुर्वेदी से प्राप्त किया तो लगभग तीस वर्ष महाप्राण निराला के साथ बिताए। यही कारण है कि उनकी वाणी और व्यवहार में उसी तरह की फक्कड़ता और सृजन के प्रति समर्पण भाव देखने को मिलता है। गुप्त जी ने हिंदी साहित्य को यदि

'नई कविता' दी है तो चित्रकला को कवि हृदय की संवेदनाओं से सहेजा भी है। प्रागैतिहासिक चित्रकला के स्वतः प्रेरित विशिष्ट अनुशीलन क्रम में भारत के अज्ञात शिलाश्रयों एवं गुफाओं की खोज करने और शिलाचित्रों की अनुकृतियों का अंकन करने का महत्वपूर्ण कार्य भी उन्होंने किया है। उत्तर प्रदेश सरकार ने उन्हें हाल ही में 'भारत भारती' सम्मान प्रदान किया है। प्रस्तुत है जगदीश गुप्त से बातचीत :

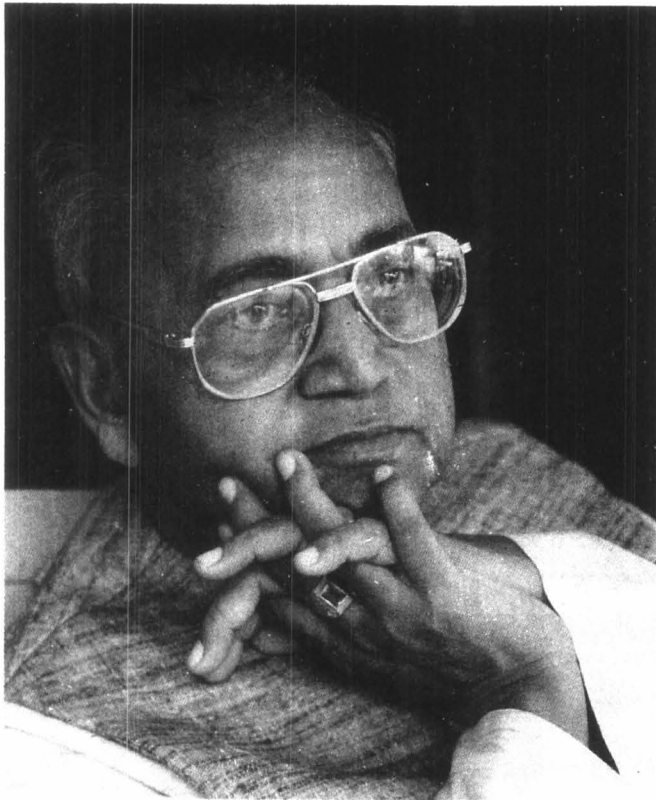
प्रश्न : आप अपने को कवि अधिक मानते हैं या फिर चित्रकार?

उत्तर : कविता और चित्रकला दोनों युगपथ के रूप में मेरे भीतर एक स्रोत के रूप में प्रवाहित होते रहे हैं। कविता मेरे लिए अलग से प्रेरणा स्रोत कभी नहीं रही। यही नहीं, समग्र दृष्टि मेरी कविता व चित्रकला तक ही सीमित नहीं है, प्रागैतिहासिक चित्र भी मुझे निरंतर प्रेरित करते रहे हैं। जड़ों तक जाने की प्रेरणा मेरे भीतर आरंभ से ही रही है। वास्तव में अतीत में फैली हुई जड़ों तक पहुंचकर उसके निजी रूप को पहचानना तथा उसे नई चेतना प्रदान करना आवश्यक है। मेरा मानना है कि चित्रकला सभी कलाओं की आंख है।

एक समय निराला, पंत, महादेवी का था और एक आज का समय है। आप तो दोनों ही समय के साक्षी रहे हैं। कैसा बदलाव पाते हैं?

बदलाव तो बहुत आ गया है। वास्तविकता यह है कि परिवेश की चेतना प्रेरणा देती है किंतु वह प्रेरणा का स्रोत नहीं होती। अंतर्जगत में कुछ निरंतर घटित होता रहता है, जिसमें एक बेचैनी होती है अकथनीय को कह डालने की। मेरा मानना है कि रचना प्रक्रिया केवल श्रमात्मक नहीं होती है। निराला जी ने कठिन से कठिन परिस्थितियों में किसी कर्म को हेय नहीं माना। उनके भीतर उत्सर्ग की भावना थी। वह समाज से जो लेना चाहते थे, लेते थे लेकिन उनके भीतर समाज को उससे कहीं अधिक देने की भावना निहित थी। ऐसे ही लोगों से बना था उस समय का साहित्यिक परिवेश। अब ऐसा कम ही देखने को मिलता है।

साहित्य व समाज के रिश्ते पर आपके क्या विचार हैं?



जगदीश गुप्त

फोटो : रंजन मिश्र

वृक्ष से...

हरी-हरी पालियों से
झूमते
ओ वृक्ष!
दे दो मुझे भी
थोड़ी-सी
जगह...
चिड़िया की तरह
बना लूं अपना
घोंसला,
मेरे पांवों की
जमीन पर
सांपों का डेरा है
निगल सकते हैं ये मुझे
कभी भी...
और रहना चाहती हूं मैं
सदियों तक जीवित...
पृथ्वी को कलरव से
भरने...

इस मुश्किल समय में...

उड़ता चला गया
प्रेम
मौसमी पंछियों-सा
सरहद के पार,
इस झील में
पारदर्शी जल था...
शांति का कोलाहल था...
मानवीय सरोकार थे,
पहाड़ी नदी-सी...
बह रह थीं-
भावनाएं
नहीं चाहता कोई-
इतना सहज होना...
मुमकिन भी नहीं
रोबोटों की दुनिया में
हवा, सूरज, बादल,
चिड़िया का 'मास्क'
पहनना!

पश्न

सीटी बजाता चौकीदार
किसको कर रहा है
सावधान
किसको है
किससे खतरा
कौन है
किसका चोर
हर पल खुला है
मेरे हृदय का द्वार...
आलों में बिखरे हैं
मोतियों भरे थाल!
अंधेरी रातों के
अनजान मसीहा!
कहो?
कुछ तो कहो
उगा सकेंगे
मुट्ठी भर लोग,
इस पृथ्वी पर
धूप की फसलें!

एकदम बोली, "आइ बैग योर पार्डन..."

श्यामरतन जैसे फट पड़ा, "आपको हिम्मत कैसे हुई ऐसी बात कहने की? फिर आपको यहां के कानून का रती-भर भी ज्ञान नहीं और आप इस तरह की बातें करती हैं! जानती हैं, इसी बात को लेकर, यहां के एक 'रिप्रेजेंटेटिव' का क्या हश्र हुआ..." और चेतना से कहा, "चेतना! जरा बताना अपनी ममी को सारा किस्सा!"

सचमुच, यदि सरस्वती को उस अमेरिकन रिप्रेजेंटेटिव (संसद-सदस्य) का किस्सा मालूम होता या अमेरिकी कानून से परिचित होती, तो ऐसी बात मुंह से न निकालती। उस रिप्रेजेंटेटिव ने कोई दस-बारह बरस से मैक्सिको की एक नैनी (आया) रखी हुई थी। नैनी के पास अमेरिका में काम करने के कोई कागजात नहीं थे। जब इस गैर-सनदी नैनी के बारे में बात निकली, तो

रिप्रेजेंटेटिव मुसीबत में फंस गया। वह गवर्नर-पद के लिए खड़ा होना चाहता था। लेकिन गैर-सनदी नैनी रखकर उसने मुल्क के कानून की अवज्ञा की थी। अमेरिका में गैर-सनदी लोगों को नौकरी देना जुर्म माना जाता है। अगर कोई काम मांगने आता है, तो काम देने वाले पर अमेरिकी कानून यह दायित्व डालता है कि वह उस आदमी के कागजात की वैधता की जांच-पड़ताल कर ले। अब उस रिप्रेजेंटेटिव ने ऐसा नहीं किया था। इसलिए गवर्नर के पद के लिए खड़े होने का मामला खटाई में पड़ गया था। यही नहीं, नैनी उसके गले की हड्डी बन गई थी। उसे नहीं हटाया, तो कानून के शिकंजे में आता है। अगर हटाया है, तो बच्चों की मुसीबत। वे नैनी के साथ इतने हिल-मिल गए थे कि उसे मां का दर्जा देते थे।

"आइ एम एकस्ट्रीमली सॉरी!" अनायास ही

इन दिनों सरस्वती के मुख से अंग्रेजी के वाक्य निकल जाते थे। "यह बात मुझे नहीं कहनी चाहिए थी..." और कहते-कहते उसने आंखों से पल्लू लगा लिया, "गलती हो ही जाती है।"

"ममी!" चेतना बोली, "कोई अच्छी बात भी कहो, तो आप टेसुए बहाने लगती हो। श्याम ने कोई गलत बात नहीं कही। ऐसा करना गैर-कानूनी है।"

सरस्वती ने लगभग बिलखते हुए कहा, "मैंने सॉरी बोल दिया न!" और कहकर वह धीरे-धीरे अपने कमरे की तरफ चली।

तुला खड़ी देख रही थी कि नानी दुखी और उदास है। एकाएक बोली, "नानी सैड!"

उस स्थिति में भी सरस्वती ने ठिठककर गीली आंखों से बालिका की तरफ देखा और हंसी निकल गई। □

सुनते-समझते ही नहीं। बस, 'धन्यवाद जी, धन्यवाद जी' बोलते रहते हैं।"

यह बात कह सरस्वती हंसने को हुई। लेकिन दामाद का सुन्न चेहरा देखा, तो छिपने की जगह ढूँढ़ने लगी।

चेतना बोली, "अभी फोन करो उन्हें। नहीं तो बुराई मुझे मिलेगी। कहते होंगे, बीवी फोन भी नहीं करने देती। फिर छोटे भाई को भी चिट्ठी लिखो।"

श्यामरतन को चेतना की यह चुटीली बात भी रास नहीं आई। उसने कनखियां से पत्नी की तरफ देखा। लेकिन कुछ बोला नहीं।

सरस्वती को लगा, बात आई-गई हो गई।

लेकिन उस रात वह बिस्तर पर लेटी, तो अचानक किसी के रोने का स्वर सुनाई पड़ा। पहले तो समझी, तुला रो रही है। लेकिन फिर लगा कि चेतना की रुलाई है। झट उठकर गलियारे में आई। हां, चेतना की ही आवाज थी।

सामने ही उनके बेडरूम का दरवाजा था। सरस्वती दुविधा में पड़ गई कि जाए या न जाए। स्थिति ऐसी थी कि न तो उनका दरवाजा खटखटा कर दरियाफ्त कर सकती थी, न वापस जा सकती थी। जब चैन नहीं पड़ा, तो दरवाजे पर जाकर उसने दस्तक देकर चेतना को पुकारा।

अवसन्न-सी खड़ी देख ही रही थी कि भीतर से श्यामरतन ने थोड़ा-सा दरवाजा खोला।

"चेतना को कोई तकलीफ है?" सरस्वती ने डरते-डरते पूछा।

"आप अभी तक सोई नहीं?" श्यामरतन ने अधाभड़े द्वार में से गर्दन निकालकर देखा।

उसके इस व्यवहार से सरस्वती को आगे कुछ कहने में संकोच हुआ। फिर भी, हिम्मत करके यह पूछ बैठी, "चेतना की तबियत तो ठीक है न!"

"बिल्कुल ठीक है!" श्यामरतन बोला, "आप आराम से सो जाइए। दिन भर की थकी हैं।" और उसने भड़ाक से दरवाजा बंद कर लिया।

सरस्वती कुछ क्षण खड़ी देखती रही। फिर अपना-सा मुंह लेकर लौट आई। पलंग पर लेटी, तो नीचे से कांटे चुभने लगे।

रात को किसी समय तुला फिर रोई, और रोती ही चली गई। सरस्वती तब जाग रही थी। उठकर देखना चाहती थी, लेकिन डरती थी। आखिर, जब लड़की चुप नहीं हुई, तो उठी। गलियारे में आई, तो चेतना अपने कमरे से निकली।

"बड़ी देर से रो रही है!" सरस्वती ने कहा। लेकिन बेटी के चेहरे की तरफ देखा, तो कलेजा धक-से रह गया। चेतना की आंखें सूजी हुई थीं, जैसे सारी रात रोती रही हो।

"चेतना, क्या बात है?"

चेतना बोली नहीं, और तुला के कमरे की तरफ निकल गई। पीछे-पीछे सरस्वती गई। चेतना ने क्रिब में रोती हुई तुला के मुंह में पानी की बोतल दी, तो वह चुप हो गई, जैसे बड़ी प्यासी थी।

"कोई तकलीफ है?" सरस्वती ने किंचित चिंतित स्वर में बेटी से पूछा।

पहले तो उसने जवाब नहीं दिया। फिर धीरे से बोली, "नहीं!"

वह रोई-रोई लगती थी। मां से कहा, "आप जाकर सो जाओ।"

लेकिन सरस्वती हिली नहीं। उस वक्त उसके भीतर से यह डर भी निकल गया कि ऊपर से श्यामरतन आकर कैसा व्यवहार कर सकता है।

"मां से भी छिपाएंगी?"

"आपसे कहा न, कोई बात नहीं है। जाकर सो जाओ।"

सरस्वती कुछ क्षण खड़ी सोचती रही। शायद दिन वाली बात को लेकर श्यामरतन ने कोई ताना मारा हो। सरस्वती का मन हुआ कि बेटी से कह दूं कि अगर मेरे कारण ऐसा हुआ है, तो मैं दोनों से क्या, तीनों से माफी मांगती हूं। मैं बच्चों के वास्ते आई हूं। अपनी ड्यूटी करके चली जाऊंगी। नाहक मेरे पीछे अपना रिश्ता न बिगाड़ो।

लेकिन यह बात उसके मुख से नहीं निकली। भर आई आंखों से दीवार पर टंगे स्नोक्वाइट के सात बौनों को निहारती रही। फिर चुपचाप मुड़ी और अपने कमरे में लौट आई। लेटी-लेटी सोचती रही-आगे से इनकी कोई बात नहीं काटूंगी। मुझे आए कितने दिन हुए और अभी से मनमुटाव की स्थिति उत्पन्न हो गई है। श्यामरतन की तो आदत है,

बात-बात पर ताना मारना। फिर हर काम में कोई न कोई खामी निकाल ही लेता है।...

यह सोचते-सोचते उसकी आंखें बरस पड़ीं। अपने आप से कहने लगी- इतना जीवन जीने के बाद हम लोगों ने कोई शऊर नहीं सीखा... ईश्वर न करे, कोई मुसीबत आए। अगर आती है, तो अपने साई की बनाई कोठरी में रहूंगी-बेटी या बेटे, किसी के पास नहीं जाऊंगी। बस, प्रभु सबको ठीक-ठाक रखे...

लेकिन एक बात से सरस्वती आश्वस्त थी। श्यामरतन मन का मैला नहीं था। दिल में बात नहीं रखता था। कड़वी बात कहकर महसूस करता था और फिर परिमार्जन करने को भी तैयार हो जाता था।

अगले दिन वह उठी, तो श्यामरतन ने सास की तरफ देखते हुए चेतना से कहा, "ममी के पास अच्छा गाउन नहीं है। अबके जरूर लेकर आएंगे।"

सरस्वती ने उस वक्त वही गाउन पहन रखा था जो दिल्ली से लाई थी। चेतना बोली, "ममी, आपको और कोई गाउन नहीं मिला? यह सड़ा हुआ दिल्ली से उठा लाई है। इसे फेंको।"

सरस्वती ने कहा, "यह तो मैं बाल डाइ करते वक्त पहनती हूं।"

"फेंको इसे! मैं एक और ला दूंगी।"

सरस्वती के मुख से प्रायः ऐसी बात ही निकल जाती जो श्यामरतन को सुहाती नहीं थी। झट बुरा मान जाता। फिर हैरानी इस बात की थी कि चेतना भी उसका समर्थन ही करती थी।

सरस्वती ने सुना था कि बेबी-सिटर की पगार के लिए आयकर में छूट मिलती है। इसलिए एक दिन उसने मजाक-मजाक में कह दिया, "श्यामरतन! मुझे बेबी-सिटर दिखा सकते हो? इनकम टैक्स में छूट मिल जाएगी तुम लोगों को।"

बस, श्यामरतन ने ऐसी प्रतिक्रिया की कि सरस्वती ऊपर से नीचे तक कांप गई।

"यह प्रमाण है!" श्यामरतन रोषपूर्वक बोला, "इंडियंस, इस मुल्क में भी गंदगी घोलने से बाज नहीं आते।"

सरस्वती को यह बात बरदाश्त नहीं हुई

“आपकी मरजी!” श्यामरतन ने स्लैक्स वापस रैक पर धर दी।

उस विशाल स्टोर में वे देर तक घूमते रहे। तुला ट्राली के आगे लगी टोकरी में बैठी खुश थी।

तभी सामने से एक गोरी अमेरिकन स्त्री आई। तुला को देखकर ट्राली के आगे खड़ी हो गई और मुस्कराते हुए तुला को निहारने लगी। फिर बड़ी ललक से सरस्वती की तरफ देखते हुए बोली, “इसके बालों को छू सकती हूँ?”

“जरूर!” सरस्वती ने प्रसन्नतापूर्वक कहा।

बूढ़ी अमेरिकन तुला के काले स्याह और घने बालों को प्रशंसा से देखते हुए बोली, “कितने काले और चमकीले हैं!” और बड़े अरमान से तुला की लटों को तर्जनी और अंगूठे से मसलते हुए आह्लादित होती रही। उस औरत की आंखों की चमक किसी ऐसी स्त्री की थी जो मातृसुख से वंचित हो।

“वेरी स्वीट चाइल्ड!” वह बोली, “तुम्हारी ग्रैंडचाइल्ड है?”

सरस्वती ने सारी बात साफ करते हुए कहा, “यस! मेरी बेटी की बेटी है।”

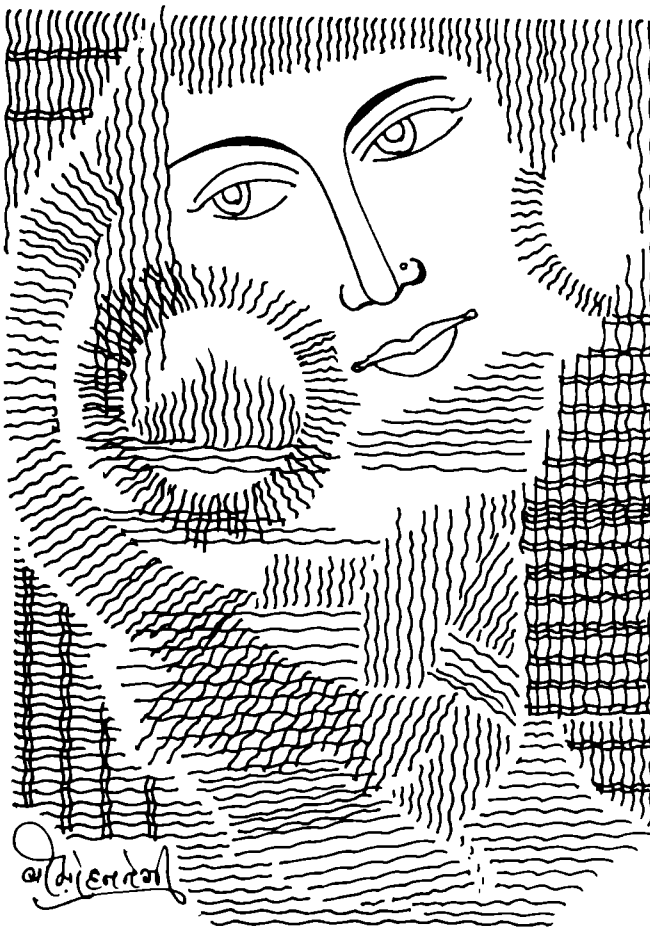
“अच्छा!” उसने प्रफुल्ल स्वर में कहा, “मेरे भी पोते-पोतियां हैं, नाती-नातिन हैं। पर वे यहां से सैकड़ों मील दूर रहते हैं।”

“नाइस मीटिंग यू!” यह कहकर श्यामरतन ने इस संक्षिप्त भेंट के समापन की घोषणा की।

जब वे उस अमेरिकन स्त्री की श्रवण-सीमा से बाहर आए, तो सरस्वती ने कहा, “यहां के लोग बच्चों को बहुत प्यार देते हैं।”

सरस्वती ने यह स्वाभाविक बात कही थी। लेकिन श्यामरतन को पसंद नहीं आई। एकदम बोला, “इसे कहते हैं इंग्लिश में ‘जंप टु द कान्क्लूजन’ यानी फतवा देना। बस, एक औरत को देखकर ही आपने फैसला दे दिया?”

“आइ वांट मामा!” एकाएक तुला रार करने लगी।



“चलो, घर वापस चलते हैं।” श्यामरतन ने कहा और अपनी अधूरी बात पूरी की। “ममी! वह कह नहीं रही थी, उसके बच्चे सैकड़ों मील दूर रहते हैं...!”

“रोजी-रोटी परिवार को बांट देती है।” सरस्वती ने अपनी दलील दी।

“ममी, मेरा कहने का मतलब यह है, आज तीन दिन आए हुए हैं अमेरिका आपको, और एक ही औरत को देखा है। अभी तो महीनों आपको यहां रहना है। कई अनुभव होंगे। आइ एम श्योर, आपको अपनी राय बदलनी पड़ेगी।”

घर लौटकर सरस्वती साड़ी उतार ही रही थी कि उन्होंने फिर बाहर जाने का कार्यक्रम बना लिया। सरस्वती ने आनन-फानन में साड़ी पुनः बांध ली।

“आप तैयार झटपट हो जाती हैं!” श्यामरतन ने शायद यह कहकर सास के इस गुण की प्रशंसा ही की थी।

“मुझे कौन-सी बिंदी-सुखी लगानी होती है! मैं सारे काम जल्दी करती हूँ। आदत-सी बन गई है।”

श्यामरतन को पता नहीं क्या सूझा, एकाएक बोला, “मेरी मां बड़ी नेक है।”

उसने बिना संदर्भ के यह बात कही थी, इसलिए सरस्वती चौंककर उसका मुंह देखने लगी।

श्यामरतन ने फिर पता नहीं क्या सोच कर दूसरी बात कही, “इंडिया में हर कोई झूठ बोलता है। मेरी मां समझदार और नेक औरत है।”

सरस्वती की समझ में नहीं आया कि श्यामरतन ने अचानक यह तान क्यों छोड़ी?

लेकिन इससे भी चौंकाने वाली बात श्यामरतन ने यह ऊही, “मेरे फादर परेशान और दुखी रहते हैं। आपको भी दुख-भरे गाने अच्छे लगते हैं।”

सरस्वती हक्की-बक्की-सी उसकी तरफ देखे जा रही थी। यह लड़का कहना क्या चाहता है? और

तत्काल उसे यह बात याद आई। दिन में उन्होंने किशोर कुमार के उदास गाने लगाए थे। सरस्वती दत्तचित होकर सुनती रही थी। जब यह गाना शुरू हुआ— ‘जिंदगी का सफर, है यह कैसा सफर...’ तो सरस्वती ने एकदम कहा था, “कितनी गहराई तक दिल को छूता है यह गाना!”

अब शायद सरस्वती की इसी बात को लेकर श्यामरतन ने व्यंग्य किया था। इसके साथ ही वह यह बात कहने से भी नहीं चूका, “मेरे पापा वैसे दुखी रहते हैं। आपको दुख-भरे गाने अच्छे लगते हैं।”

चेतना निकट खड़ी थी। जैसे भूली बात याद करते हुए एकाएक श्यामरतन से कहती है, “अपने पेरेंट्स को फोन तो करो!”

“खाक फोन करूँ!” श्यामरतन बोला, “बहरे हैं, एकदम बहरे हैं दोनों। कुछ सुनते ही नहीं। बस, ‘हैलो-हैलो’ करते रहते हैं।”

पता नहीं क्या सोचकर सरस्वती बोल उठी, “हम भी दिल्ली में फोन करते हैं, तो कोई बात

“क्यों, मैं खुद नहीं बना सकती- अगर पीनी हो!”

“आज मेरे हाथ की बनी पीकर देखो। कहेंगी, रोज बनाकर दिया करो!”

“नो, थैंक्यू वेरी मच। रात-भर बर्फ पड़ती रही।”

“अब भी पड़ रही है। बाहर देखो, सड़क पट गई है। सड़क साफ करने वाले नमक छिड़क रहे हैं। थोड़ी देर बाद आप देखेंगी, रास्ता इस तरह साफ हो जाएगा, जैसे इस तरफ बर्फ पड़ती ही न हो!”

“घर के भीतर तो लगता ही नहीं कि मध्य दिसंबर है।”

भीतर तुला मां के बिस्तर पर उछल-कूद मचा रही थी। नानी की आवाज कानों में पड़ी, तो ‘नानी-नानी’ बोलती हुई दौड़ी आई और सरस्वती की गोद में चढ़ गई।

“मेरी बेंटी जाग गई! देखो, कितनी खुश लगती है!” नानी ने प्रफुल्लित होकर उसे चूम लिया।

तुला एक-एक उंगली निकालते हुए चार उंगलियां दिखाकर बताती है-रात को ममी ने चार किताबें पढ़कर सुनाई।

“अच्छा! कौन-कौन-सी?”

इमसे पहले कि तुला किताबों के नाम गिनवाए, श्यामरतन ने बेंटी से कहा, “चलो, बाहर स्नोमैन बनाएं!”

लड़की किताबों की बात भूल पिता के गले लग गई। “येअसअ...!” उछलते हुए बोली।

पिछवाड़े का लान बर्फ से पूरी तरह ढका हुआ था। बाप-बेंटी जल्दी-जल्दी तैयार होने लगे। तुला ने लाल सूट और मिटन पहने और बाप के साथ लान में निकल गई। दोनों ने मिलकर बर्फ का आदमी खड़ा किया। श्यामरतन ने जब गाजर से उसकी आंखें बनाकर उसके सिर पर हैट रखा, तो तुला आह्लादित होकर नाचने लग गई, “हुर्र...”

सरस्वती ओसारे में खड़ी देख रही थी। श्यामरतन ने बुलाया, “ममी! आप भी आ जाओ।”

“नहीं, मुझे ठंड लगती है।”

“नहीं, आना पड़ेगा। फोटो खींचते हैं।”

श्यामरतन दौड़कर भीतर गया और कैमरा ले आया। मगर जब तुला को स्नोमैन के साथ खड़ा करके फोटो खींचने लगा, तो तुला ने हाथ आगे करके रोका, “श्टाप, श्टाप!” और नानी को बुलाने लगी, “यु आलशो कम!”

“नांह!” सरस्वती ने कोहनियां पसलियों में खोंसते हुए मुट्ठियां गालों के साथ भींच लीं और ठिठुरते हुए कहा, “नो, नो! मुझे सर्दी लगती है।”

“लड़की कहती है, तो आ जाइए न!” दामाद ने फिर इसरार किया।

“अच्छा, बाबा! आती हूं। बच्चों के आगे हार माननी ही पड़ती है।”

सरस्वती ने चप्पल पहन रखी थी। धीरे-धीरे बर्फ पर चलकर आई और तुला के साथ खड़ी हो गई। बालिका ने नानी की बांह से झूलते हुए खींचें निपोरीं, ची...ी...ी... ‘ज’...

“ममी! आपकी यह चप्पल यहां नहीं चलेगी, इस मौसम में।” श्यामरतन ने कैमरा क्लिक करते हुए कहा, “आज आपको बूट खरीदवा देते हैं।”

“बूट! सरस्वती ने हैरानी के साथ कहा, “बूट पहनूंगी मैं?” और वहां से हटने को तत्पर हुई।

“ममी! थोड़ी देर वहीं खड़ी रहें!” श्यामरतन ने स्टिल कैमरा गले से लटकाते हुए कहा। “मैं वीडियो कैमरा लेकर आता हूं।” और तत्काल भीतर भागा।

“श्याम!” पीछे सरस्वती ने गुहार-सी करते हुए कहा। “मेरे हाथ-पैर सुन्न होते जा रहे हैं।”

श्यामरतन वीडियो कैमरा ले आया। बोला, “बस, एक-दो मिनट रुक जाइए।” और वह आगे-पीछे, दाएं-बाएं चलते हुए कोण से फिल्म बनाता रहा।

“दैट्स इट !” एकदम संतुष्ट होकर बोला।

तुला स्नोमैन के गिर्द नाचती फिरती थी।

“चेतना!” श्यामरतन ने चुहल नहीं की, गंभीर स्वर में पत्नी से कहा, “ममी को अगर इस मौसम में स्लैक्स वगैरह पहना दें, तो कैसा रहे?”

सरस्वती सुनते ही और कांपने लग गई, “इस उमर में मेरा धर्म क्यों भ्रष्ट करना चाहते हो! न, न! मैं तो हमेशा साड़ी ही पहनती थी। यहां के लिए

सलवार-कमीज बनवाकर लाई हूं।”

श्यामरतन हंसने लगा। बोला, “ममी! विदेश में आकर सभी पहनती हैं।”

“तेरे ससुर क्या कहेंगे?”

“उन्हें भी बुलाते हैं। देखना, आपको स्लैक्स में देखकर खुश होंगे।”

“न, न! तू बस, रहने दे! मेरी फजीहत करवाना चाहता है!”

शाम को चेतना घर ठहरी और श्यामरतन बेंटी को और सास को क्रिसमस की रोशनी दिखाने ले गया।

“यहां क्रिसमस से दो महीने पहले ही लोगों में होड़ लग जाती है अपने घरों की सजावट करने की।” श्यामरतन दौड़ती कार से सड़क के दोनों तरफ रोशन मकान दिखाते हुए बता रहा था। “इन दिनों यहां ऐसा कोई घर नहीं मिलेगा जहां लड़ियां न टंगी हों।”

गिरती बर्फ में गर्म गाड़ी में घूमना सरस्वती के लिए अनूठा अनुभव था। सड़क के दोनों तरफ बर्फ से लदे पेड़ों पर बिजली के लट्टू टिमटिमा रहे थे। उनकी शीतल रोशनी में टहनियों से लटकती बर्फ ऐसे चमकती थी जैसे परीक्षण-नलियां लटक रही हों।

उस दिन वे डाउन टाउन तक गए, जो कि आधुनिक सिनसिनेटी का पुराना हिस्सा था। वहां नंगी ईंटों के मकान और गलियों-सड़कों पर काली चमड़ी के और दूसरे अश्वेत लोगों को देखकर सरस्वती चकित हुई। बोली, “इधर तो नीग्रो ही नीग्रो दिखाई पड़ते हैं। इधर गोरी आबादी नहीं है?”

“मिली-जुली है। ज्यादा काले ही रहते हैं।”

डाउन टाउन का चक्कर लगाकर वे एक स्टोर में गए। सरस्वती के लिए बूट नहीं मिले, तो श्यामरतन ने स्लैक्स दिखाई। सरस्वती एकदम छिटककर परे जा खड़ी हुई, “तुम तो मजाक करते हो!”

“ममी!” श्यामरतन ने बड़े स्नेह और जतन से सास को स्लैक्स की अच्छाइयां समझानी चाहीं।

“नहीं, मुझे नहीं पहननी!” सरस्वती वहां से चलने को उद्यत हुई।

पिछले मकान-मालिक उसमें लकड़ी जलाते थे। श्यामरतन ने उस जगह का इस्तेमाल टी.वी. और वी.सी.आर. रखने के लिए किया था। अब सास को निकट खड़ा करके उसने बताया कि इस तरह कसेट डालकर 'चैनल 4' पर चलाते हैं और 'बानी' देख सकते हैं।

तुला सामने सोफे पर बैठी दत्तचित होकर टी.वी. की तरफ देख रही थी। 'बानी' का गाना चल रहा था- 'बानी इज ए डायनासोर...!'

श्यामरतन ने बेटी की तरफ देखते हुए कहा, "देखो, किस तरह ध्यान लगाकर देख रही है। अब घंटे से पहले यहां से हिलेगी नहीं। चाहे ढोल बजें, इसकी समाधि कोई भंग नहीं कर सकता।"

"बानी इसका पसंदीदा प्रोग्राम है।" चेतना कह रही थी, "दिन-भर देखती है। फिर भी थकती नहीं। श्यामरतन ने इसके जनम से पहले ही कई एपिसोड रिकार्ड कर लिए थे। फिर, रोज शाम चार बजे टी.वी. पर भी आता है।"

"इंडिया में केबल टी.वी. आ गया है।" सरस्वती बोली, "तरह-तरह के विदेशी कार्यक्रम दिखाते हैं, मगर यह तो कभी देखा नहीं।"

श्यामरतन ने अर्थपूर्ण स्मित के साथ सास की तरफ देखा, "इंडिया में कभी कोई अच्छा प्रोग्राम दिखाते भी हैं!"

चेतना ने डांटा, "श्याम! अब बस करो!" फिर मां से बोली, "ममी आप थकी हुई लगती हैं। सो जाओ।"

"नींद आएगी, तो सो जाऊंगी।" यह कहते हुए उसने बेटी से पूछा, "अड़ोस-पड़ोस में आपका जान-पहचान वाला कोई परिवार नहीं?"

"क्यों?" श्यामरतन ने चौंकते हुए सास की तरफ देखा और फिर व्यंग्य किया, "दाल की कटोरी भिजवानी है?"

सरस्वती एकदम कटकर रह गई। बोली, "तुम तो हर बात मजाक में लेते हो।"

चेतना ने जैसे प्यार से समझाया, "ममी! यहां किसी के पास इन बातों के लिए कोई टाइम नहीं। हां, गराज के सामने वाली कांटेज में बूढ़ा यहूदी मार्क राथ रहता है। नए-नए आए थे, तो हम उससे मिलने गए थे। एक बार वह भी आया था, जब उसकी पत्नी जिंदा थी। उसके बाद न हम गए, न वह आया।"

लेखक के शीघ्र प्रकाश्य उपन्यास नानी का यह एक अंश है। लेखक ने प्रवासी भारतीयों और विशेषकर संघर्षरत एक ऐसे दंपति की कथा को, अपने उपन्यास का आधार बनाया है जो संतानोत्पत्ति के उपरांत अपने आप को विकट स्थितियों में पाते हैं। दिन-रात अंधी दौड़ में शामिल ऐसे लोगों के बच्चे या तो निर्माही नैनी (आया) की दया पर निर्भर रहते हुए पलते हैं या 'डे-केयर' जैसी जगहों पर बारह-बारह घंटे लगातार पड़े रहते हैं या फिर उनकी देखभाल के लिए ये लोग नाना-नानी, दादा-दादी या अन्य संबंधियों का सहारा लेते हैं। ये सारी स्थितियां ऐसी हैं जो नवजात शिशुओं को बुरी तरह प्रभावित करती हैं।

"तुला!" श्यामरतन ने खेलती लड़की को आदेश दिया, "उठो! इट्स नीनी टाइम!" और श्यामरतन उसे क्रिब में सुलाने ले गया।

चेतना और श्यामरतन के बेडरूम और सरस्वती के बेडरूम के दरवाजे आमने-सामने पड़ते थे। बीच में लंबा गलियारा था, जिसके अंतिम छोर पर तुला के खिलौनों और क्रिब वाला कमरा था। रात को किसी वक्त तुला रोई, तो सरस्वती गहरी नींद में थी। लेकिन गलियारे के काठ के फर्श पर पदचाप से उसकी नींद खुल गई और बालिका के रोने का स्वर सुनाई पड़ा। जब तक सरस्वती उठ कर जाती, श्यामरतन तुला को थपथपाते हुए गलियारे में चला आ रहा था।

"क्यों, रो क्यों रही है?" सरस्वती ने दरवाजे में खड़े होकर पूछा।

"आप क्यों उठकर आई? जाइए, सो जाइए!" श्यामरतन ने सास को लगभग डांट दिया।

रात को दो-तीन बार ऐसा हुआ। अतः सरस्वती ने गलियारे में खड़े होकर श्यामरतन से

कहा, "इसे मुझे दे दो। आपकी नींद नाहक खराब कर रही है।"

चेतना भी उठकर आ गई। श्यामरतन ने व्यंग्य से पत्नी की तरफ देखते हुए कहा, "सुन लिया! जो बात तुमने पहले दिन समझाई थी, उसके एकदम उलट होगा। तुम कहती थीं, लड़की का रूटीन चेंज नहीं करना। सब उलटा-पुलटा होने जा रहा है।"

सरस्वती पछताई कि मैंने यह सुझाव क्यों दिया। बोली, "आइ एम सॉरी। ठीक है, मुझे यह बात नहीं कहनी चाहिए थी।"

लेकिन श्यामरतन इस तरह बख्शाने वाला आदमी नहीं था। उसे सास की यह बात इतनी असह्य लगी कि चेतना को एक तरफ ढकलते हुए वह अपने बेडरूम के भीतर चला गया।

सरस्वती का तो त्राह ही निकल गया- हाय, गर्भवती को इस तरह धकियाते हैं।

मगर पता नहीं चेतना क्या सोच रही थी कि उसने मां से कहा, "ममी! आपसे कोई अच्छी बात भी कहे, तो आप मुंह फुला लेती हो। जब आपसे कह दिया कि यह अपनी क्रिब में ही सोएगी, तो फिर अपने साथ सुलाने का मतलब?"

"सॉरी!" सरस्वती आकर अपने पलंग पर लेट गई और देर तक बिसूरती रही।

'छोटे बच्चों को हमेशा पास सुलाते हैं। यह नया तरीका है कि एक मील पर क्रिब में लड़की को सुला रहे हैं! बच्चा रोए, तो पहले तो पता ही न चले। फिर जब तक पहुंचो, रोते-रोते बेहाल हो जाए...'

प्रायः रविवार को चेतना और श्यामरतन की छुट्टी रहती थी।

सरस्वती अपने बैडरूम से उठकर गलियारे में आई, तो श्यामरतन कुर्ते-पाजामे में खड़ा था। सास को देखते ही रात की सारी बात भूल आदरपूर्वक बोला, "गुड मॉर्निंग! रात को कैसी नींद आई?"

"बहुत अच्छी। तुम लोग शायद कई बार उठे।"

श्यामरतन ने लापरवाही से कहा, "ममी! हम इस सबके आदी हो गए हैं अब। आपको चाय बना दूं?"

“दलील तो तुम्हारी सही है, अपनी जगह।” सरस्वती बोली। फिर हंसने लगी, “तेरे पापा हमेशा कहते हैं, पुरानी रजाइयों-तुलाइयों में से आज भी चेतना और राजेश्वर के गू-मूत की बदबू आती रहती है...।”

घंटेभर बाद श्यामरतन भी आ गया। आते ही उसने तुला से पहला सवाल यह किया, “तुला! तूने नानी को परेशान किया?”

“क्यों, परेशान क्यों करेगी मेरी बेटी?”

नानी ने लाड़ से बालिका की तरफ देखते हुए कहा, “तुला इज ए गुड गर्ल!”

“आइ वांट चावी-बूनी!” एकाएक तुला बोली।

सरस्वती ने कहा, “हां, तुम लोगों से फोन पर पूछना भूल गई। दिन में भी कहती थी- आइ वांट चावी-बूनी। मेरी तो समझ में कुछ आया नहीं!”

श्यामरतन ने चेतना की तरफ देखा, “ममी को बताकर नहीं गई? इसका मतलब है, लड़की ने दिन-भर कुछ खाया नहीं होगा।”

“नहीं, दूध कई बार पिलाया।”

श्यामरतन को यह बात रुचिकर नहीं लगी। “चेतना, बताकर जाना था न !”

चेतना बोली, “सॉरी, बताना भूल गई”, ममी! चावी यह चावल को बोलती है और दही को बूनी।”

श्यामरतन बोला, “शुरू-शुरू में दही में बूंदी डालकर दी थी। तभी से दही को बूनी बोलती है।”

चेतना बोली, “सू को भी इसने यह सिखा दिया। वह भी इसे नीनी टाइम, कहकर सुलाती थी।”

“ओके!” श्यामरतन ने तुला से कहा, “चावी-बूनी खानी है, तो पहले बिब बंधवाओ।”

“नो बिब!” तुला ने उसी जोरदार आवाज में कहा जिस जोरदार आवाज से डायपर बदलवाने से इंकार किया था। और फिर रोने लग गई।

“नो क्राइंग...रोना नहीं।” श्यामरतन ने लड़की को खींचकर सामने खड़ा कर लिया और समझाया, “नो बिब, नो चावी-बूनी। समझी?”

तुला रोए जा रही थी। सरस्वती से यह देखा न गया। बोली, “रहने भी दो। क्यों रुला रहे हो मेरी बेटी को?”

इस बात से श्यामरतन एकदम उखड़ गया। सास से कुछ न कह, पत्नी से बोला, “चेतना, वही बात हुई न, जिसका डर था।”

चेतना आ गई और बोली, “तुला! बिब के लिए तू हमेशा रार करती है। चुपचाप बंधवा ले। नहीं तो-नो चावी-बूनी।”

तुला डरी-डरी आंखों से पिता की ओर देखते हुए मां के पास चली गई और बिब बंधवाने को भी राजी हो गई।

“तुला इज ए गुड गर्ल।” श्यामरतन ने कहा।

अब वे खाना खाने बैठे। सरस्वती ने हैरानी से देखा। तुला दही का चम्मच मुंह में डालकर टंबर से दूध का घूंट भरती थी। इसलिए एकदम आतंकित होकर बोली, “यह क्या ! दूध-दही इकट्ठा खिला रहे हो?”

“क्यों, ऐसा क्या गलत काम हो गया?” श्यामरतन ने इस लहजे में कहा और फिर गर्दन मोड़कर सास की तरफ इस तरह देखा जैसे सरस्वती ने बिना सोचे-समझे कोई बात कही हो।

“दूध-दही का मेल नहीं है।”

“क्यों नहीं है?” श्यामरतन ने जवाब तलब किया।

“हमें तो हमेशा यही बताया जाता रहा है।” सरस्वती ने सामान्य-सा स्पष्टीकरण दिया।

“आखिर, हम भी तो जानें, इससे क्या नुकसान होता है!”

सरस्वती इस धारणा के औचित्य-अनौचित्य के बारे में कुछ बता नहीं सकी। श्यामरतन ने जैसे जीत का नारा बुलंद किया, “देखा! बताएंगी भी क्या! इंडिया में कोई जानता ही नहीं कि यह करने से या न करने से क्या लाभ-हानि होती है। बस, लकीर के फकीर बने रहते हैं। इन्हीं बातों के कारण इंडिया पिछड़ रहा है।”

“श्यामरतन! तुम फिर शुरू हो गए?” चेतना ने भर्त्सना के स्वर में पति की तरफ देखा।

सरस्वती कह रही थी, “हमें तो यही बताते थे, दूध-दही एक साथ नहीं लेना चाहिए।”

“पर कोई वजह तो होनी चाहिए!” श्याम

रतन ने खीझकर कहा।

“मैं तुमसे बहस में जीत नहीं सकती!” सरस्वती ने भी तुनककर कहा और मुंह फेर लिया।

“ये सारे वहम इंडिया में होते हैं। यहां कोई परवा नहीं करता। एक हाथ में जूस का गिलास होता है, दूसरे में चाय-काफी!”

चेतना हंस रही थी, “श्याम, ममी ठीक कहती है। तुमसे बहस में कोई जीत नहीं सकता।” फिर मां से बोली, “ममी! शुरू-शुरू में-जब हम लंडन में थे-मैंने श्याम को मना किया कि तरबूज खाकर ऊपर दूध मत पियो। पता है, इस शख्स ने क्या किया? तरबूज शोक बना दिया...।”

इस बात पर श्यामरतन खिलखिलाकर हंसा। बोला, “कहो, तो अभी बनाकर पिलाऊं?”

“न, बाबा!” चेतना ने हाथ जोड़ दिए माथे तक ले जाकर, “ये काढ़े तुम्हें ही मुबारक हों। अब चुपचाप खाना खाओ।”

श्यामरतन ने हंसते हुए सरस्वती की तरफ देखा, “एक दिन मेक्सिकन रेस्तरां में ले जाएंगे। वहां आपको फ्राइड आइसक्रीम खिलाएंगे।”

“न, आप ही ऐसी चीजें खाओ!” सरस्वती बोली, “मुझे तो दाल-रोटी ही अपनी पसंद है। मैं आज भी मुक्का मारकर प्याज कुचलती हूँ और दोनों हथेलियों में निपीड़कर खाती हूँ।”

“चेतना!” श्यामरतन ने पत्नी की तरफ देखा, “इंडिया कभी तरक्की नहीं कर सकता, लिख लो।”

चेतना हंसते हुए बोली, “श्याम! यह बात तुम कितनी बार कह चुके हो! लिखने की जरूरत नहीं, मेरे दिमाग के कंप्यूटर में दर्ज हो गई है।”

इस पर तीनों ठहाका मारकर हंसे।

खाना खाकर वे फैमली रूम में आ बैठे। सरस्वती को एकाएक यह बात याद आई, “तुला दिन भर बानी-बानी करती रही...आइ वांट दू वाच बानी...।”

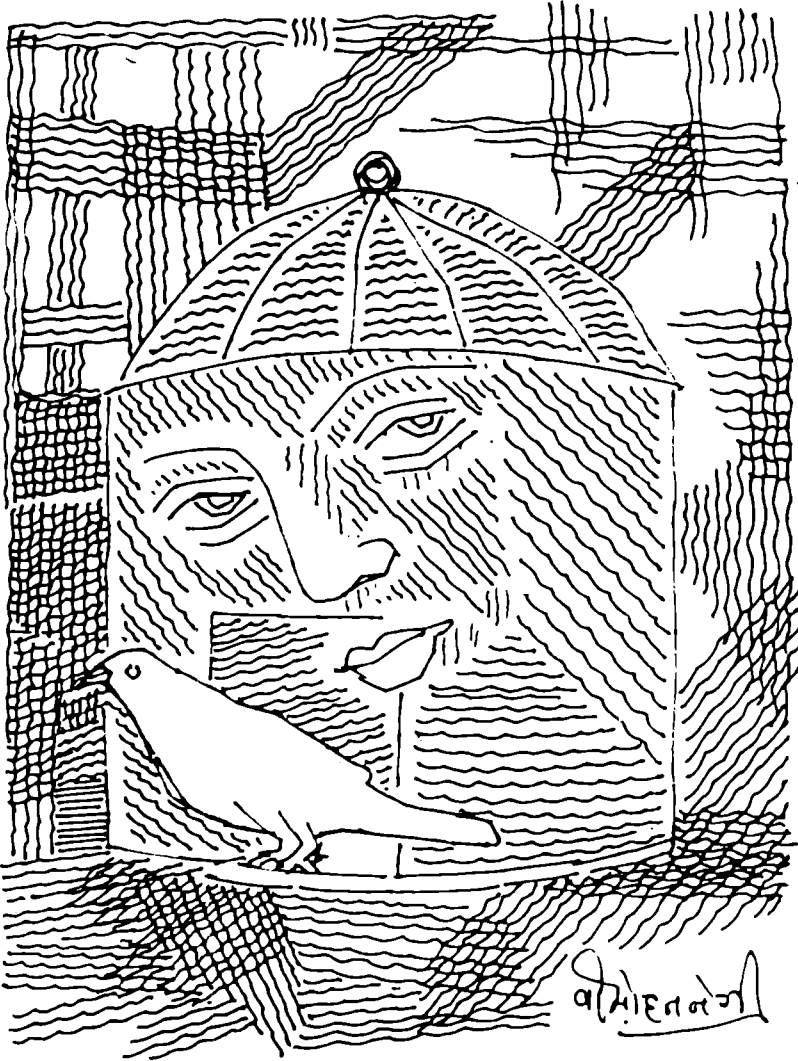
“सारी!” श्यामरतन ने टी.वी. की तरफ देखते हुए कहा, “बताना ही भूल गए। मैं सेट कर देता हूँ और आपको समझा भी देता हूँ।”

फैमली रूम में काफी बड़ी अंगोठी बनी थी।

नानी उदास है !

द्रोणवीर कोहली

रेखांकन : बी. मोहन नेगी



शाम को चेतना घर लौटी, तो इधर-उधर सूंघते हुए बोली, “घर में यह कैसी गंध है?” फिर जल्दी-जल्दी बाथरूम गई। वहां से निकलते हुए बोली, “ममी! आपने इसके डायपर यों ही कचरे में डाल दिए। अच्छी तरह लपेटकर और बांधकर डालने थे। सारे घर में बदबू फैली है।”

तुला खड़ी असुविधा-सी महसूस कर रही थी, जैसे डायपर गीला हो।

“तूने ‘पीपी’ कर रखी है या ‘पूपी’?” चेतना ने उसे ताड़ते हुए कहा।

“नो!” वह जोर से बोली और मुंह फुलाकर खड़ी हो गई।

“नो का मतलब है, तूने कुछ कर रखा है!” चेतना उसे हाथ से पकड़ सोफे तक ले गई और लिटाकर जबरदस्ती उसका डायपर खोला।

“आय-हाय!” चेतना ने बुरी तरह नाक-भोंसिकोड़ते हुए मुंह बनाया है, तूने तो ढेर सारी पूपी कर रखी है। ममी, प्लीज, बाथरूम से एक डायपर ला दो। किचन से थोड़ा-सा पेपर-टावल भी गीला कर लाओ।”

मां दोनों चीजें ले आई। चेतना ने बालिका के चूतड़ पोंछकर उतरा हुआ डायपर इस तरह लपेट-लपाटकर और कसकर बांधा जैसे गठरी बांधते हैं और मां को दिखाया, “ममी, डायपर उतार कर इस तरह बांधकर डाला करो। बदबू नहीं फैलेगी।”

“डायपर कितने का आता है?” सरस्वती ने यों ही पूछ लिया।

चेतना अवहेलना से मुस्कराते हुए बोली, “आप कीमत पूछकर क्या करेंगी! वैसे, एक डालर में तीन आते हैं।”

“फिर तो बड़े महंगे हुए!”

“कैसे महंगे हुए?” चेतना ने आंखें मिचमिचाते हुए मां की तरफ देखा, “हिसाब लगाओ, तो सस्ते पड़ते हैं। इंडिया में लोग लंगोट-सा बांध देते हैं, हालांकि वहां डायपर मिलने लगे हैं। बच्चे दिन भर कपड़ों पर और बिस्तरों पर हगते-मूतते रहते हैं। बिस्तरों से बदबू जाती नहीं। अब हिसाब लगाओ, यह सौदा महंगा है या वो।”

नहीं देख पाता, वह उसके अंतरतम का अभिन्न अंग नहीं बन पाती। रचनाशीलता का प्रमुख सरोकार यही है कि वह पाठक की चेतना में रच बस जाए और उसे अपनी समग्रता खोजने में सहायता प्रदान करे।

रचनाशीलता और रचनाकर्म के प्रसंग में यह भी एक ध्यातव्य मुद्दा है कि हम सामयिकता के प्रश्न पर भी विचार करें। हमारा प्रयोजन साहित्य अथवा कला के माध्यम से सामायिकता को सार्थक ढंग से रेखांकित करना होता है। रचनाधर्मी तथा बहुआयामी कला समाज की गतिविधियों से निरपेक्ष नहीं रह सकती। सामयिकता के सरोवर में सामयिकता का हल्का-सा आघात भी एक व्यापक ऊर्मिधर्मी आंदोलन खड़ा कर देता है। इसी बिंदु पर रचना की उपादेयता के प्रश्न को भी देख लिया जाना समीचीन होगा। जाहिर है, उपादेयता किसी भी उत्कृष्ट कला का एकमात्र लक्ष्य नहीं हो सकती तथापि अनारोपित उदादेयता साहित्य से आत्यंतिक रूप से संबद्ध होती ही है।

रचने के क्षण में रचनाकार सपाट नहीं होता। बहुत कुछ चेतना की भीतरी तहों से ही अंकुर की तरह फूटता है, पर वह हवाई तो किसी भी दशा में नहीं होता। प्रकारांतर से वह सामाजिकता से संवादात्मक साक्षात्कार ही होता है। रचनाकार आनंद के मार्ग से उद्देश्यपरकता के दायरे में प्रविष्ट होता है। अंततोगत्वा रचना व्यष्टि की संकुल परिधि से निकलकर मनुष्य को उसके विराट से परिचित कराती है। यदि रचनाकर्म के दौरान महान उद्देश्यों की अवतारणा की गई है और सामाजिक कल्याण का महान लक्ष्य भी दृष्टि के केंद्र में रखा गया है तब भी यह निश्चित तौर पर नहीं कहा जा सकता कि रचना महान ही होगी। जब तक कोई सृजन पाठक के मन में गहरे उतरकर संवेदनशीलता के शिखर नहीं छूता। वह समग्रता का आकलन करने में असफल ही कहा जाएगा। कई बार यह भी होता रहा है कि तात्कालिकता के मानदंडों के दबाव में कोई कृति उपयोगिता को सीधे-सीधे रेखांकित करती नहीं दिखी, पर पाठक की चेतना के आर-पार देखने वाली- पारदर्शी निदर्शन बनकर सामने आई है।

युग सत्य की रक्षा प्रत्येक युग के श्रेष्ठ साहित्य में होती है- बल्कि यहां तक भी कह सकते हैं कि सामयिकता के संदर्भ में उपयोगिता, उद्देश्य और प्रचार की भी साहित्य में भरपूर गुंजाइश है- गोर्की की 'मां' इस तथ्य का एक श्रेष्ठ उदाहरण मानी जा सकती है। रचना के माध्यम से अंततः हम युग दर्शन करते हैं- इसलिए उसमें सामयिकता का परिवेश तो होगा ही, किंतु मात्र सामयिकता को किसी भी रचना का अभीष्ट नहीं कहा जा सकता।

इस आलेख के आरंभ में मैंने 'क' के व्याज से साधारण जन की जिस स्वाभाविक आकांक्षा का उल्लेख किया था, उसे फिर से दोहराना मैं कई कारणों से जरूरी समझता हूं। अपेक्षाओं, एषणाओं की पूर्ति के बाद मनुष्य की सहज आकांक्षाओं में 'मुक्ति' का भाव सर्वप्रमुख है, पर कहीं तंत्र, कहीं वर्ग, कहीं संप्रदाय आदि की दुर्धर्ष तथा अंधी शक्तियां उसके इस सहज प्राप्य को हमेशा से नकारती चली आ रही हैं। मनुष्य, जिसे सामाजिक परिवेश में महज भीड़ का एक हिस्सा अथवा चेहरा विहीन 'कोई भी' खयाल किया जाता है। क्या वास्तव में इतना ही निरीह है। समस्त निर्माण की प्रक्रिया में आदमी के अनुपस्थित हो जाने से क्या हासिल हो सकता है? क्या हम निर्जीव यांत्रिकता को आदमी के ऊपर तरजीह दे सकते हैं?

चूंकि रचनाकार सर्वप्रथम मनुष्य है इसलिए उसे भी मामूली आदमी की ही नियति भोगनी पड़ती है। उसकी सारी रचनाशीलता रोजमर्रा के महाभारतों से ही प्रस्फुटित होती है। राजनीति और तंत्र अपनी कथनी में उसका कवच बनने का पाखंड करते हैं, पर वास्तविकता प्रायः इससे उल्टी ही होती है। इस विरोधाभास और मानव द्रोह को साहित्य के माध्यम से रचनाकार स्पष्ट करता है और शोषक शक्तियों की समस्त चालाकियों और छद्म को अपनी रचनाशक्ति की ऊर्जा से काटने का औजार बनाता है। लेखकीय मन अपने पाठकों से लयात्मक स्तर पर जुड़ा रहकर उसकी प्रत्येक भाव तरंग में झंकार पैदा करता है। ऐसे क्षण भी बहुत बार आते हैं जब उसके रचनाकर्म पर आतंक का अंकुश लगाने के धिनौने प्रयास किए जाते हैं, परंतु कोई भी निषेध और अवरोध सही लेखन को कुंठित करने में समर्थ नहीं होता।

लेखक अथवा रचनाधर्मी कई अवसरों पर अपनी शक्ति, प्रतीक और बिंबविधान से भी संयोजित करते हैं। सत्ता और क्रूरतम व्यवस्था में सर्वप्रथम साहित्यकार-कलाकार ही पहला शिकार बनाए जाते हैं। ऐसे समय उन्हें अपने कथ्य को सीधा-सपाट बनाना स्वीकार नहीं होता। उनकी अभिव्यक्ति का माध्यम ऐसी स्थितियों में सूक्ष्म और संकेतात्मक ही हो सकता है।

कोई भी महान रचना उस पारदर्शी आइने के समान होती है जो पाठक को उसके सही स्वरूप से साक्षात्कार कराने में सक्षम होती है। अंततः पाठक की अपने 'स्व' से परिचित होने की कामना बहुत बलवती होती है। उसे किसी भी तरह गैर वाजिब नहीं कहा जा सकता। कोई भी सार्थक परिवर्तन एक दृष्टिबोध के बिना असंभव है और यही काम कलमकार-कलाकार का अंतिम लक्ष्य कहा जा सकता है। जिस रचना के माध्यम से मनुष्य अपनी सामर्थ्य से परिचित नहीं हो पाता वह कोई सामाजिक सरोकार पूरा नहीं करती। इस संदर्भ में मुझे चार्ल्स कर्टिस मुंज के उपन्यास *लैंड विदाऊट मोजेज* के कथानक का ध्यान आता है। इस रचना के जरिए रचनाकार ने सर्वहारा की यातनापूर्ण नियति का मर्मवेधी विवरण प्रस्तुत किया है और केंद्रीय पात्र 'कर्बी मोटन' के 'हैबीसा काउंटी' के प्रवेश को मानवीय आकांक्षाओं के चरम स्वप्न के रूप में उपस्थित किया है। मुक्ति की सहज कामना मानव मात्र की सहज एषणा अथवा लोकेषणा बन गई है।

लैंड विदाऊट मोजेज में कर्बी मोटन एक गुलाम काशतकार का पुत्र है जो गुलामी और दारिद्र्य के जंगल से मुक्त होने के लिए प्रयासरत है। वह उस प्रदेश में पहुंचना चाहता है जिसे उसका पिता 'आदर्श भूमि' कहता है। कहना न होगा कर्बी मोटन की यह आकांक्षा प्रकारांतर से मानव मात्र का चरम स्वप्न है। हम सभी 'आदर्श लोक' में पहुंचने के लक्ष्य में बाधक, प्रत्येक अवरोध को तोड़ने के लिए बड़े से बड़ा बलिदान देने से भी नहीं हिचकते। चार्ल्स कर्टिस मुंज ने अपनी रचना के माध्यम से पाठक की आंतरिक संरचना में बीज बोने की भूमिका निभाई है। इसी संदर्भ में यह कहना अतिशयोक्ति पूर्ण नहीं समझा जाना चाहिए कि रचनाकार की पक्षधरता भी खुले तौर पर हमारे सामने उजागर हो जाती है।

मैं अपने आलेख का अंत फिर 'क' के उसी उदाहरण से करता हूं जहां वह एक सहज स्वस्थ मानवीय जीवन की कामना के लिए अहोरात्र संघर्षरत रहता है और रचनाकार उसके संघर्ष की दिशा का निर्देश ही नहीं करता, बल्कि स्वयं उसका हमराह बनकर उसके साथ-साथ चलता भी है। □

रचना के बहाने

साहित्य की किसी भी विधा में काम करने वाला रचनाकार केवल शाब्दिक अभिव्यक्ति तक सीमित नहीं रह सकता / उसकी संवेदना व्यक्तिगत राग-द्वेष से हटकर मानव नियति को रेखांकित करने का दायित्व वहन करती है / एक ओर वह मानव नियति का विश्लेषक और व्याख्याकार है तो दूसरी ओर साधारण जन में से स्वयं एक भुक्तभोगी / रचनाकार की संवेदना केवल घटित क्षण के स्थूल ऐतिहासिक विवरण से ही संबद्ध नहीं होती, बल्कि क्षण के स्पंदन से उसका रागात्मक संबंध जुड़ता है / लेखक के सरोकारों और संवेदनाओं पर विचार कर रहे हैं कथाकार से.रा. यात्री

मैं अपने आलेख का आरंभ एक स्थूल उदाहरण से कर रहा हूँ :

सैकड़ों शतों को पूरा करने के क्रम में 'क' नाम का व्यक्ति कुल मिलाकर एक सामान्य जन है। वह कामना करता है कि वह मामूली बने रहकर -जिस आजीविका पर निर्भर करता है- उसी के संबल पर सांसारिकता का सहज निर्वाह कर ले जाए। उसके आश्रितों को एक औसत जिंदगी उपलब्ध होती रहे। जिन्हें 'क' के सहारे की अपेक्षा है, उनकी थोड़ी-बहुत सहायता करते हुए हर क्षण की मौत मरे बिना अपना जीवन व्यतीत कर ले जाए।

...और असली कठिनाई यहीं से यानी इन मामूली अपेक्षाओं भरी जिंदगी की आकांक्षा से प्रारंभ होती है। अनेकानेक जानलेवा संघर्षों से जूझते हुए साधारण जन, जीवन का न्यूनतम हासिल करना चाहता है। उसकी खुशियां और उद्वेग, आशा और आकांक्षाएं न्यूनतम से संबद्ध हैं, लेकिन यह साधारण व्यक्ति, जिसे हम 'आम आदमी' कहते हैं, कहां-कहां नहीं टूटता बिखरता है। सारे आदर्शमूलक नारे और प्रभामंडित नेतृत्व इसे क्या कोई सामाजिक न्याय दिला पाते हैं? कोई तंत्र इसे सांसत से निजात नहीं देता। इसे महज एक रेत जिंदगी मयस्सर होती है। जिसमें जीवनदायिनी आर्द्रता की एक बूंद तक नहीं होती। अंततः सारे विश्वासों, सारी जिजीविषा का अंत बेहतर जीवन के लिए लड़ने कटने में ही होता है। कह सकते हैं यही 'क' का जीवनवृत्त है। हम प्रेमचंद के *गांदान* को इसी बिंदु पर खड़े होकर देखें तो कुछ अजब नहीं लगेगा।

इस स्थल पर लेखक और 'आम आदमी' में कोई अंतर नहीं है। लेखक भी जीवनेच्छाओं से निष्काम प्राणी नहीं है। यह अलग बात है कि रचनाकार साधारण भोक्ता के स्तर के समानांतर रचने की संवेदनशीलता गहराई से अनुभव करता है। रचनाधर्मी लेखक अपनी कृतियों में जीवन की सहज आशाओं का स्वर ही रखना चाहता है। जीवन वृत्तियों का समस्त बहिरंग-अंतरंग मानवमात्र को जिस रूप में आंदोलित करता है, वह लेखक की चेतना में भी उसी रूप में ध्वनित होता है।

इसी सरल तरंगायित मन से व्याप्ति और समष्टि का योग संपन्न होता है। लेखक अथवा किसी भी साहित्यिक विधा का शिल्पी जीवन व्यापार के तहत ऐसे ही पात्रों की सर्जना करता है जो जिंदगी की विविधता से उठाए गए होते हैं और उनमें कोटि-कोटि मनुष्यों की धड़कन स्फूर्त होती है।

साहित्य की किसी भी विधा में काम करने वाला रचनाकार केवल शाब्दिक अभिव्यक्ति तक सीमित नहीं रह सकता। उसकी संवेदना व्यक्तिगत राग-द्वेष से हटकर मानव नियति को रेखांकित करने का दायित्व वहन करती है। एक ओर वह मानव नियति का विश्लेषक और व्याख्याकार है तो दूसरी ओर साधारण जन में से स्वयं एक भुक्तभोगी। रचनाकार की संवेदना केवल घटित क्षण के स्थूल ऐतिहासिक विवरण से ही संबद्ध नहीं होती, बल्कि क्षण के स्पंदन से उसका रागात्मक संबंध जुड़ता है। इसीलिए रचनाकार का सत्य तथ्य, इतिहास और देशकाल की परिधि को तोड़कर सीमाहीन विस्तार पा जाता है। इस संदर्भ में यह कहना प्रसंगानुकूल होगा कि सहस्रों वर्षों के घटित अंतराल को अनुभूति और संवेदना की अचूक क्षमताएं क्षण-भर में छिन्न-भिन्न कर डालती हैं। यही नहीं वे विस्मृत अतीत के पृष्ठों पर अंकित धूमिल-उपेक्षित घटनाओं को भी नव्य रूप देकर पुनर्जीवित कर देती हैं।

मनुष्य की आंतरिक प्रवृत्तियां हमेशा बहुत स्पष्ट होकर मुखरित नहीं हो पातीं। जीवन की बहुविध गत्यात्मकता के चलते साधारण जन में अभिव्यक्ति का संकट तो रहता ही है, पर कभी-कभी यह उसके मौन को अत्यंत चमत्कारी ढंग से विस्फोटक स्तर पर भी व्यक्त कर देता है। आदमी के जीवन में बहुत कुछ ऐसा है जो व्याख्या का मोहताज नहीं होता। वह संकेतात्मक ढंग से प्रवहमान है पर रचनाकार की स्थिति थोड़ा भिन्न है क्योंकि उसे सृजन के स्तर पर कई कड़ी चुनौतियों का सामना करना पड़ता है। दुर्बोध और अज्ञेय की गहराइयों में बैठकर अभिव्यक्ति के मानक स्थिर करने की चुनौती लगभग हर युग में रचनाकार को उठानी ही पड़ती है। कोई भी युग रहा हो, रचना से गुजरते हुए रसग्राही को उसमें अपने निजत्व की झलक मिलती ही रही है। जिस रचना में व्यक्ति अपने स्वरूप का पूर्ण अथवा आंशिक स्वरूप



श्रद्धांजलि

हिंदी साहित्य के मूर्धन्य समालोचक डा. नरेंद्र का गत 27 अक्टूबर 1999 को निधन हो गया। वह भारतीय और पाश्चात्य काव्यशास्त्र के उद्भट विद्वान थे। हिंदी साहित्य की समीक्षा के क्षेत्र में 'रस सिद्धांत' के मामले में उनका महत्वपूर्ण योगदान है। आजकल में भी उनके अनेक निबंध प्रकाशित हुए। आजकल-परिवार की ओर से उन्हें श्रद्धांजलि।

ही हो, किंतु वह दर्शन अपने मूल रूप में युग का सत्य अवश्य होता है।

आज फिर विश्वपटल पर विखंडनवाद की दुंदुभी बज उठी है। हमें यह ठीक-ठीक समझ लेना चाहिए कि विखंडनवाद विखंडनवादियों की मानसिक उपज मात्र नहीं है। उन्होंने 'द्रष्टा' की भांति इस विखंडन, इस विखंडनमूलक-अराजकता, का 'दर्शन' किया है। विखंडनवादी तो मात्र इस सत्य का अभिकथन कर रहा है, उसे रच नहीं रहा है।

इस संदर्भ में चिंताजनक यह प्रश्न नहीं है कि विखंडनवादी विखंडनवाद को रच रहा है अथवा; उसका अभिकथन मात्र कर रहा है अथवा; इस अभिकथन में कितना सफल है?...मूल प्रश्न यह है कि यदि खंडन-विखंडन का यह क्रम नहीं रुका तो शेष क्या बचेगा? क्या कोई भविष्य हमारे सामने है?

फिर भी आशा तो रखनी ही होगी। साहित्यकार, चिंतक, दार्शनिक सत्त्वों की सृष्टि भले नहीं करते, किंतु आदर्शों के प्रतिमान स्थापित करना उनका प्राथमिक दायित्व है। समय निरंतर परिवर्तनशील है, गतिशील है। इस परिवर्तन को रोकना तो संभव नहीं ही है। साथ ही इसे रोकने की चेष्टा भी श्रेयस्कर नहीं है। हां, परिवर्तन की दशा तथा दिशा को एक सीमा तक नियंत्रित निर्धारित किया जा सकता है। यही दिशा-दशा नियंत्रण-निर्धारण चिंतक का दायित्व है। यदि विखंडन और विध्वंस इस युग का धर्म है तो उस सत्य को कह देने भर से चिंतक दायित्व-मुक्त नहीं हो जाता। भविष्य निर्माण की योजना, भविष्य के प्रति आशा, आस्थाओं का एक चबूतरा- यह सभी चिंतक के मूल दायित्व और सरोकार हैं। यहां यह चेतावनी भी अपेक्षित है कि खंडहरों में भटकने वाले या तो प्रेत होते हैं या चमगादड़। चिंतक न तो प्रेत है न चमगादड़। उसे तो समय के अनंत व्योम में आस्था का एक वितान तानना होगा। न मात्र इतना ही, वरन् भूत के ध्वंसावशेषों की सफाई भी चिंतक का ही दायित्व है। यदि आस की यह ज्योति, भविष्य का यह सूर्य, चिंतक न दिखा सके तो कोई साहित्य क्यों पढ़े? दर्शन की ओर क्यों देखे? युग विचारकों और चिंतकों का मुखापेक्षी क्यों हो? ऐसी स्थिति में यह तय कर लेना चाहिए कि साहित्य (सा + हित्य अर्थात् जो हित के लिए साथ हो), चाहे वह चिंतनमूलक हो या रचनामूलक,

उसे एक आलोकपुंज की तरह जलना होगा। ठीक यही दायित्व दर्शन को भी निभाना होगा। यदि दार्शनिक, साहित्यकार, चिंतक, बुद्धिजीवी अपने इस दायित्व का निर्वहन नहीं कर पाते तो उनकी समस्त साधनाएं, समस्त चिंताएं निरर्थक और अप्रासंगिक हैं।

मात्र इतना ही नहीं वरन, इतिहास हमारे लिए जैसे कुछ चेतावनियां छोड़ता है, कुछ संदेश भी छोड़ जाता है। पुनः हम संजय वेलट्टीपुत्त के युग से प्रारंभ करें तो जिस युग में संजय वेलट्टीपुत्त हुए, ठीक उसी युग में, विचारधारा की दृष्टि से उनके परवर्ती युग में महात्मा बुद्ध भी हुए। इसी भांति जिस युग में यूनान में सोफिस्ट हुए ठीक उसी युग में विचारधारा की दृष्टि से उनके परवर्ती रूप में, सुकरात भी उपस्थित हुए। सत्रहवीं शताब्दी में जब ह्यूम ने संशयवाद की दुंदुभी यूरोप में फूँकी तो ठीक उसी के परवर्ती समय में या लगभग साथ ही यूरोप में क्रांतियों और नवजागरणों के वृक्ष प्रस्फुटित हुए। यह संयोग मात्र नहीं है कि बुद्ध को बोधिसत्त्व की प्राप्ति बोधगया में हुई और सुकरात ने अपना ज्ञानालोक यूनान में फैलाया। उस काल में बोधगया से ठीक सटा राजगीर था, जहां उस काल में घोर अराजकता व्याप्त थी, चाहे वे संजय वेलट्टीपुत्त हों, अजित केशकांबली हों अथवा प्रकृद्ध कात्यायन हों- सभी ने ज्ञान और तर्क का सहारा लेकर लोकजीवन में घोर अनास्था और अराजकता का साम्राज्य कायम कर रखा था। इसी भांति यूनान में सोफिस्ट थे, इसलिए सुकरात वहां पैदा हुए। सत्रहवीं शताब्दी और परवर्ती काल की बात करें तो उस काल में संशयवाद था (जिसकी प्रतिस्थापना ह्यूम ने की) इसीलिए वहां प्रतिक्रिया स्वरूप नवजागरण भी आया और, क्रांतियां भी हुईं। तात्पर्य कि अराजकता, विखंडन, ध्वंस भस्मासुर की भांति अंततः अपने ही सिर पर हाथ रखकर आत्मघात करते हैं और तब इस चरम विस्फोट से एक नवयुग का प्रदुर्भाव होता है।

फिलवक्त विखंडनवाद की दुंदुभी फिर फूँकी गई है। स्पष्टतः वक्त आया है, हमें नवयुग के स्वागत की तैयारी कर लेनी चाहिए। किंतु इसके पहले एक बुद्ध को तप-त्याग के मार्ग से गुजरना होगा, किसी सुकरात को विष पीना पड़ेगा, गैलीलियो दहन की त्रासदी भी झेलनी पड़ेगी और राजमुकुटों को भू-लूणित कर देने का पराक्रम भी युग को दिखलाना होगा। □

विखंडनवाद की स्थापना रचनाओं के पाठ-पुनर्पाठ के संदर्भ में है, जहां शब्दों की बहुअर्थकता और व्यंजनमूलक शक्ति के नए आयाम खुलते हैं। साहित्य में यह विखंडनवाद रचनाओं का सतरंगा संसार-सा उत्पन्न करता दिख पड़ता है, जहां एक ही रचना, एक ही शब्द, विखंडनवाद से प्रिम्ज गुजरकर विविध रंगों में स्थापित होता दिख पड़ता है। परंपरागत भारतीय शब्दवली कभी इस विखंडनवाद की तुलना वैयाकरणियों के 'शब्द ब्रह्म' से करता है तो कभी 'बुर्जुआ' और 'फासिस्ट' जैसे विशेषणों से घबरा कर शब्दों को 'अपरिमित' और 'अपराजेय' बताने वाले पाश्चात्य विखंडनवादी सिद्धांत को सर्वथा मौलिक करार देने के लिए कंठ फाड़ने लगता है।

विचारधारा के अन्य क्षेत्रों की बात करें तो विखंडनवाद का सर्वाधिक घातक प्रहार इतिहास के दर्शन पर हुआ है। यदि शब्द बहुअर्थी और व्यंजनमूलक हैं तथा यदि शब्दों का कोई निश्चित अर्थ नहीं होता तो इतिहास के प्रत्येक पाठ का खंडन संभव होगा। ऐसी स्थिति में 'ऐतिहासिक सत्य', 'ऐतिहासिक साक्ष्य' या 'ऐतिहासिक तथ्यों' अथवा समस्त 'इतिहास' की ही प्रामाणिकता नष्ट होगी। विखंडनवाद को स्वीकार करने पर 'इतिहास' और 'मिथक' का भेद नष्ट होगा। अब यह कहना कितना दुष्टतापूर्ण और कितना अनिष्टकारी है कि मानव प्रजाति का कोई 'इतिहास' है ही नहीं तथा जो है सो मिथक है, जिसकी प्रत्येक मनचाही व्याख्या प्रत्येक व्यक्ति के लिए उतनी ही सत्य है, जितनी वह स्वीकार करना चाहे। निश्चय ही सत्य का एक विषयनिष्ठ पक्ष भी होता है जिसके कारण ज्ञाता सत्य को जानता है, किंतु सत्य की विषयनिष्ठता पर यह आघात क्या हमें 'होमोमेनसुरा' के यूनानी युग में नहीं ले जा रहा है? 'मानव सभी सत्यों के मानदंड की अंतिम कसौटी है'—तथाकथित मानववादी दृष्टिकोण की यह अतिरंजना हमें किस अहंमात्रवादी अराजकता के युग में ले जाएगी—क्या इसकी कल्पना हम कर पा रहे हैं?

दार्शनिक, विचारक अथवा चिंतक न तो सत्य की सृष्टि करता है न ही सिद्धांतों की रचना उसका अभीष्ट है। वह तो स्थितियों का, दृश्य स्थितियों का, एक सूक्ष्म दृष्टा मात्र है, जिसने सतत साधना से अपनी अंतर्दृष्टि इतनी विकसित की है कि वह दृश्य के बीच का वह सूक्ष्म परिदृश्य भी ग्रहण करता है जिसे सामान्य व्यक्ति देख नहीं पाता है। इसी अंतर्दृष्टि पर आधारित विचारों को वह प्रस्तुत करता है जिनके विषय में आमतौर पर हम सोचते हैं कि अमुक चिंतक, विचारक अथवा दार्शनिक ने अमुक सिद्धांत की रचना की या अमुक सिद्धांत का प्रतिपादन किया, जबकि वस्तुस्थिति यह है कि चिंतक स्थितियों, वादों अथवा सिद्धांतों का प्रतिपादक न होकर उनका दार्शनिक (द्रष्टा) अथवा भाष्यकार भर होता है।

विखंडनवाद भी किसी व्यक्ति या व्यक्तियों के समूह द्वारा रचा गया अथवा प्रतिपादित एक सिद्धांत भर नहीं है, यह तो समय की धारा में बह रहा वह सत्य है जिसे सूक्ष्म दृष्टिसंपन्न विचारकों ने अपनी वैचारिकता में पकड़ लिया है तथा जिसका 'दर्शन' साधकों-चिंतकों ने किया है। यह त्रासद सत्य विखंडनाद का नहीं, बल्कि विखंडनवाद की ओर से हमारी ओर उछाल दी गई एक चेतावनी है कि इस समय में सब कुछ खंडित है— 'अयऽमात्मा ब्रह्म' से लेकर मार्क्स के भौतिकवाद तथा इनके आगे-पीछे का सब कुछ। हमारा वर्तमान विखंडन के दौर से गुजर रहा है। व्यक्तिरूप प्रतिमानों के खंडन से लेकर राजनैतिक-सामाजिक-पारिवारिक संरचनाओं के खंडन तक सर्वत्र यह

दौर जारी है। स्पष्टतः जब वर्तमान विखंडित है तो भूत और भविष्य का विखंडन भी सहज सिद्ध है।

चूँकि भविष्य वर्तमान के उदर से जन्म लेता है अतः निश्चय ही भविष्य के प्रति यह चिंता उपजती है कि क्या होगा भविष्य? कैसा है हमारा भविष्य? हम अगली सदी के सपने देख रहे हैं, अगली सदी में जाने का उतावलापन हम पर सवार है, यदि हमारा वश चलता तो बीच के काल भी फलांगकर हम अगली सदी में जा पहुंचते। लेकिन मर्मांतक प्रश्न यहां यह है कि जिस भविष्य के प्रति हम इतने उत्सुक हैं, क्या वह भविष्य सुरक्षित है? खंड-खंड ही सही, क्या हमारे हाथ 'भविष्य' के नाम पर कुछ लगने जा रहा है? जैसा कि हम सभी जानते हैं कि वर्तमान के उदर से ही भविष्य का जन्म होता है। प्रश्न है कि यदि माता का उदर ही क्षत-विक्षत है, खंडित है, तो गर्भस्थ शिशु का भविष्य क्या होगा? क्षत-विक्षत गर्भशयि क्या धारण करेगा? किसको जन्म देने में सफल होगा? क्या है भविष्य? भविष्य-शिशु का भविष्य कैसा है?

यह सब जो कहा जा रहा है न तो कवि कल्पित कल्पना मात्र है, न शब्दों का दुराग्रह मात्र। अपनी अब तक की खंडित समस्त आस्थाओं, खंडनोन्मुख समस्त संस्थाओं, हाथों में थमे परमाणु आयुधों की विश्वविजयिनी मारकता की ओर देखें तो यह सब मनोविकारग्रस्त रोगी की भयभीत आशंका-मात्र भी नहीं प्रतीत होता। तो मूल प्रश्न है कि आज के इस विखंडनवादी युग के उदर से, जहां संशय का एक जाल-सा तन गया है, किस भविष्य का जन्म होने जा रहा है?

यदि इतिहास को विखंडित करने की जिद हम त्याग दें और अब तक 'इतिहास' के नाम पर मानक रूप में जो लिखा गया है, उसकी प्रामाणिकता यदि हम स्वीकार कर लें, तो इतना स्पष्ट है कि इस प्रकार का विखंडनवादी, संशयवादी या शब्दांतर से कहें तो, अराजकतावादी युग मानव-सभ्यता के इतिहास-पटल पर पहली बार उपस्थित नहीं हुआ है। छठी शताब्दी ई. पू. में, ठीक बुद्ध के काल में ही, या विचारधारा की काल-दृष्टि से बुद्ध के ठीक पहले, इसी भारतवर्ष में, वैचारिक अराजकता का एक युग आया था जिस युग के सत्य का दर्शन करते हुए संजय वेलट्टीपुत्त नाम चिंतक ने भारतीय संशयवाद का एक सिद्धांत प्रतिपादित किया, जहां हर वस्तु संशयग्रस्त थी, हर स्थिति को संशय के ही चश्मे से देखा जाना तय था। सच तो यह है कि संजय वेलट्टीपुत्त का युग मात्र वैचारिक अराजकता का युग नहीं था वरन उस युग में राजनीतिक, सांस्कृतिक, सामाजिक- प्रत्येक पटल पर संशय और अविश्वास विद्यमान थे। लगभग उसी काल में पश्चिम यूनान में सोफिस्ट हुए जो युगधर्म के अनुकूल घोर भोगेन्द्रियवादी थे, जिन्होंने 'समय के सत्य' को देखते हुए 'होमोमेनसुरा' (मानव ही सभी पदार्थों का मानदंड है) का सिद्धांत प्रतिपादित किया। परवर्ती काल में पुनः दो हजार वर्षों से भी अधिक काल बिताकर यूरोप में डेविड ह्यूम ने संशयवाद के दर्शन का प्रतिपादन किया। यह दर्शन ह्यूम की मानसिक उपज अथवा कपोल-कल्पना-मात्र न था। यह संशयवाद- समस्त स्थितियों और विश्व, ज्ञान-विज्ञान, प्रतिमानों के प्रति संशय- उस युग के तंतुओं में प्रवाहित हो रहा था, जिसे ह्यूम ने एक 'दार्शनिक' की तरह देखा। दार्शनिक सत्यों को रचता नहीं, वह तो दृश्य का अभिकथन मात्र प्रस्तुत करता है जो अभिकथन शब्दों की सीमाबद्धता के कारण दोषपूर्ण भले

वर्तमान का संकट और भविष्य की आशंका

ध्वंस का युग है यह, जिसमें हम जी रहे हैं / हमारे समस्त प्रतिमान धाराशायी हैं / नैतिकता के हमारे समस्त मानदंड ध्वस्त हो चुके हैं / समस्त राजनीतिक तंत्र, सारी समाज व्यवस्था, सारी स्थापनाएं आज अनास्था की सूली चढ़ बैठी हैं / ऐसे समय में हमारे हाथ में शेष क्या है? दुखपूर्वक स्वीकारना पड़ता है कि जो शेष है, वह है मात्र संशय ! यहां तक कि हमारा वर्तमान संशयग्रस्त है, इतिहास खंडित है और भविष्य के समस्त परिदृश्य संशयग्रस्त हो उठे हैं / आज समस्त विश्व के विचारगत धरातल पर जो सिद्धांत, जो दृष्टि, जो वाद, जो विचारधारा, अपना परचम गाड़े खड़ी है उसका नाम है 'विखंडनवाद' / भारत में यह विखंडनवाद जाक देरिदा के माध्यम से साहित्य में उभरकर आया है / साहित्य में उत्तर आधुनिकता के नाम से उभरे इस नए दर्शन पर नीलिमा सिन्हा

वर्तमान समय का सबसे बड़ा संकट क्या है? महंगाई? अस्थिरता? असहिष्णुता? अनैतिकता? नैतिक मूल्यों का हास? युद्ध?...?...

वर्तमान का सबसे बड़ा संकट है- अविश्वास। घोर अविश्वास के दौर से गुजर रहे हैं हम। हमारे समस्त विश्वास, हमारी समस्त आस्थाएं सर्वत्र खंडित हैं। अविश्वास का आलम यह है कि हम अपने आदर्श पुरुषों के चरित्र पर भी विश्वास नहीं करते। राम, कृष्ण, बुद्ध, गांधी, नेहरू, किंग्टन सभी के चरित्र अविश्वास के सलीब पर टंगे नजर आते हैं। उधर 'मी गोडसे बोलतोय' है तो इधर राम संप्रदायवाद के चिह्न हो उठे हैं। इधर कृष्ण जातीय प्रतिष्ठा के प्रतीक-चिह्न बने मौजूद हैं तो उधर सैटानिक वर्सेज लिखे जा रहे हैं। उधर इराक, पाकिस्तान, चेचन्या, अफगानिस्तान, बांग्लादेश से लेकर समस्त विश्व के गलियारों में अमानवीयता वीभत्स नृत्य प्रस्तुत कर रही है तो उधर पाकिस्तानी, तालिबानी, सद्दामी और दुनिया भर के सत्तातंत्र अपने सत्ता दुर्ग को अधिकाधिक अभेद्य बनाने की चिंता से ग्रस्त अपने राजमहलों के ध्वनिविस्तारक यंत्रों के माध्यम से इन नृत्यों पर तालवाद्य प्रस्तुत कर रहे हैं। सर्वाधिक हृदय-विदारक तो यह है कि मानवता के ध्वंस का यह नृत्य विश्व-पटल पर न तो पहली बार हो रहा है और न ही यह नृत्य अंतिम है। यद्यपि इतिहास ने सीखने के लिए हमारे पास ज्ञान-विज्ञान और अनुभवों के अकूत भंडार छोड़ रखे हैं किंतु हम महामूर्ख मानव न तो अपने ज्ञान-विज्ञान को संरक्षित रख पाते हैं, न अपने ऐतिहासिक अनुभवों से कुछ सीख ही पाते हैं। पदलोलुप राजसत्ता हर बार हमें ध्वंस का पाठ पढ़ाती है, हर बार हमारी आस्थाओं को खंडित करने वाले दुष्टाचार और चिंतन का खेल हमें सिखाती है और हर बार हम तमाशा-लोलुप

बालक की भांति तालियां पीटते नजर आते हैं। होश हमें तब आता है जब प्रेक्षागृह की छत हमारे अपने सिर पर गिरकर हमारी ही चेतना हरने को उद्भूत हो उठती है। इस क्षणिक चेतना से तब किसी का क्या बनने-बिगड़ने वाला होता है?

ध्वंस, घोर ध्वंस का युग है यह, जिसमें हम जी रहे हैं। हमारे समस्त प्रतिमान धाराशायी हैं। नैतिकता के हमारे समस्त मानदंड धाराशायी हैं। समस्त राजनीतिक तंत्र, सारी समाज व्यवस्था, सारी स्थापनाएं आज अनास्था की सूली चढ़ बैठी हैं। ऐसे समय में हमारे हाथ में शेष क्या है? दुखपूर्वक स्वीकारना पड़ता है कि जो शेष है, वह है मात्र संशय ! यहां तक कि हमारा वर्तमान संशयग्रस्त है, इतिहास खंडित है और भविष्य के समस्त परिदृश्य संशयग्रस्त हो उठे हैं। सर्वाधिक त्रासद तो यह प्रश्न है कि 'भविष्य' जैसा हमारे पास कुछ बचा भी है क्या? जब परमाणु बम फटेगा तो किसका भविष्य सुरक्षित रहेगा? किस भविष्य की बात हम करें?...अद्भुत विभीषिका, विखंडन, विध्वंस के युग में जी रहे हैं हम !

आज समस्त विश्व के विचारगत धरातल पर जो सिद्धांत, जो दृष्टि, जो वाद, जो विचारधारा, अपना परचम गाड़े खड़ी है उसका नाम है 'विखंडनवाद'। भारत में यह विखंडनवाद (डिफेंसिव्शनिज्म) जाक देरिदा के माध्यम से साहित्य में उभरकर आया है। भारत के साहित्यकर्मी विखंडनवाद को आलोचना के उत्तर आधुनिक मानदंड की एक प्रशाखा या स्वतंत्र रूप में स्वीकार कर रहे हैं। यहां विखंडनवाद का स्वर इतना चेतावनीमूलक नहीं है क्योंकि वहां

में पराग की भांति अपनी उपस्थिति दर्ज करती है। उपेक्षित वर्गों के प्रति पुष्प जी की संवेदना कहीं गहरे तक जुड़ी हुई प्रतीत होती है। पत्रिका में साहित्यिक लेखों का स्थायी स्तंभ शुरू करें ताकि साहित्य के छात्र इस पत्रिका से नियमित लाभ उठा सकें।

—कमाल अहमद, नई दिल्ली

अपेक्षा से कम

● खजुराहो के लिए समर्पित अंक से अत्यधिक अपेक्षा थी परंतु....। खैर, पन्नालाल पटेल जी की कहानी 'हमें क्या चाहिए' को पढ़कर लगा कि शायद हमें भी जानना शेष है कि हमारी इच्छाएं एवं आवश्यकताएं क्या हैं?

शिवप्रसाद जी से बातें करके मन में गुदगुदी हुई।

—अरुण 'बारना', कुरुक्षेत्र

और भी बहुत कुछ है

● नरेशचंद 'पुष्प' की कविताएं मुझे पूरी तरह पंजाबी रचनाकार मनजीत टिवाणा की कविता 'लड़कियां' पर इस कदर आधारित लगी कि लगा ही नहीं कि इनका अपना कुछ नया कथ्य है। 'गीत' अच्छे लगें, गज़लें भी ठीक थीं। दोनों कहानियां विशिष्ट लगीं। यदि संभव हो, तो आगामी अंकों में कुंदनिका कपाड़िया की

कहानियों का प्रकाशन करें। 'खजुराहो' पर विशिष्ट जानकारी पहली बार मुझे किसी पत्र या पत्रिका में दिखाई पड़ी। लगा कि और भी बहुत कुछ है वहां सिवाय मिथुनरत मूर्तियों के। मनोहर पुरी के व्यंग्य ने अच्छा खासा समां बांधा।

—श्याम बाबू 'बृज' धोरावल,
सोनभद्र, (उ.प्र.)

बधाई

● 'समय शेष' पढ़ा। यह कहानी इतनी अच्छी लगी, मैं बता नहीं सकता। 'समय शेष' सामाजिक संबंध की कहानी है। अति दर्दनाक तथा वास्तविक कहानी है।

—आर्य यज्ञदत्त, जगतसिंहपुर,
(उड़ीसा)

कहानी याद रहेगी

● पत्रिका का कलेवर हमारी लोक-संस्कृति को महिमामंडित करने में सांगोपांग सफल है। भारतीय शिल्पकला का बेजोड़ नमूना खजुराहो पर विहंगम दृष्टिपात कराती लेखनी ने कुछ नए आयाम उपस्थित किए, रचनाकारों को विशेष साधुवाद। अंक की दोनों कहानियां नायाब हैं, पर 'समय शेष' कहानी, लेखक युगल के हाथ चूमने को दिल चाहता है।

लेखक का पता नहीं है, उन

महाशय को आपके माध्यम से अपना संदेश पहुंचाना चाहता हूं। इस कहानी में लेखक ने एक खराब बहू-बेटे के माध्यम से सास को जलने पर मजबूर कर दिया। ईश्वर का कितना अच्छा न्याय हो सकता है, इस पर लेखक क्या टिप्पणी कर सकता है। कहानी के नायक दशरथ बाबू और नायिका सुमित्रा देवी के बीच जब पहली बार परिचय होता है, नायक-नायिका के पैर देखता है जो सुघड़ और अच्छे हैं जहां कहानी अपनी पवित्रता में अनंत है। पूरी कहानी एक नितांत सहज और सामान्य परिवेश की है, किन्तु पात्रों का नाम, उनकी आयु, उनका अकेलापन, उनके बेटा-बहू, नाती-पोते और फिर जीवन की राह में एक निर्णय दशरथ जी का। वाह, 'प्रेम' के इस रूप को अब तक कितनों ने जाना, समझा और भोगा है। रात्रि में दशरथ का सुमित्रा को उसके घर छोड़ने जाना और रास्ते में थरथराते हाथों से दशरथ जी का हाथ थामना। कहानी का अंत इससे दूसरा कोई नहीं हो सकता। कहानी दुखांत होते हुए भी सुखांत है और यही लेखनी का उद्भट चमत्कार है। यह कहानी उसी तरह हमेशा याद रहेगी, जिस तरह कि अतीत कितना ही दुखमय क्यों न हो, उसे याद करने में अतीव सुख मिलता है।

—धीरेंद्र बाबू खरे,
जबलपुर

गजलों का फर्क

अंक में प्रकाशित शमशीर संभली की तीन उर्दू गज़लों की ओर आपका ध्यान आकर्षित करना चाहता हूं। गज़लें चाहे उर्दू की हों चाहे हिंदी की, उनके प्रकाशन में कोई परेशानी नहीं है। परेशानी इस बात से है कि आप उर्दू गज़लों को हिंदी पत्रिका में बिना उनकी पहचान के प्रकाशित कर रहे हैं। हिंदी के पाठक और ऐसे रचनाकार जिनकी रुचि गज़लों में है इन रचनाओं को पढ़कर यह प्रेरणा अवश्य ग्रहण करते होंगे कि जब तक हिंदी गज़लों में उर्दू के लफ़्ज़ नहीं होंगे उन्हें गज़ल नहीं माना जाएगा। आज गज़लों का जो उदाहरण पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत कर रहे हैं वस्तुतः वे उर्दू गज़लें हैं, जो देवनागरी में प्रकाशित होने से हिंदी गज़लें हो जातीं।

उर्दू एक पूर्ण भाषा है तथा हिंदी में पचा लिए गए दो-तीन सौ शब्दों से ऐसा प्रतीत होता है कि दोनों भाषाएं समान हैं। यह बात तो उर्दू-हिंदी शब्दकोश देखकर ही आसानी से समझी जा सकती है। यह समानता कुछ शब्दों तक ही सीमित है। उर्दू के जो रचनाकार लेखन से जुड़े हैं वे भी हमारे बीच के ही हैं। अतः उनकी बोलचाल की भाषा में कोई खास फर्क नहीं है तथा इसका प्रभाव उनकी भाषा पर (लेखन) भी नजर

वास्तु-मूर्तिकला की तो महती सेवा की ही है, हिंदी साहित्य और मध्यकालीन भारतीय इतिहास को भी उजागर किया है।

मैं इक्यासीवें वर्ष में हूँ। लिखना छोड़ दिया है। हाँ, मोटे-मोटे टाइप में छपी आध्यात्मिक पुस्तकें पढ़कर कालक्षेप करिष्यामि वाली बात है।

चंदेल शासकों ने गहरवार क्षत्रियों के साथ मिलकर काशी को बचाने का जो अंतिम प्रयत्न किया तथा कीर्ति सिंह वर्मा और चंद्रगहरवार के सम्मिलित पुरुषार्थ की झांकी दिखलाई, संभवतः उसी से खजुराहो की शिल्पकला सुरक्षित है। आपने हिंदी भाषा साहित्य में इस विशेषांक को निकालकर आजकल के द्वारा हिंदी में शिल्प समीक्षा का नया मार्ग प्रस्तुत किया है। रामस्वरूप पल्लव जी को इसके लिए मेरा धन्यवाद। विद्याधर का उल्लेख स्व. जयचंद्र विद्यालंकार जी ने अपने इतिहास प्रवेश में आदर पूर्वक किया है। नीला चांद उपन्यास में भी विद्याधर का सम्मानपूर्वक उल्लेख हुआ है।

मानवीय प्रेम और आध्यात्मिक सौंदर्य की वह परंपरा कभी-न-कभी ध्वस्त हो सकती है, पर आजकल का यह विशेषांक तो युग-युग तक अमर रहेगा।

खजुराहो की मूर्ति कला की

बारीकियों को प्रथम वर्ग, द्वितीय वर्ग और तृतीय वर्ग में विभाजित कर जिस सुंदर और संक्षिप्त रूप से उनको विश्लेषित किया गया है वह स्तुत्य है।

‘खजुराहो के मूर्ति शिल्प में नारी के विविध स्वरूप’ शीर्षक दीपक कुमार सिन्हा का लेख भी बहुत ही सुंदर बन पड़ा है। दीपक कुमार सिन्हा ने खजुराहो के मंदिरों में महामाया के विविध स्वरूपों की जो झांकी प्रस्तुत की है वह हम अंतर्राष्ट्रीय महिला वर्ष मनाने और स्त्रियों को मात्र भोग्या समझने की कुंठित भावना को तार तार करके रख देती है।

‘भारतीय शिल्पियों का चमत्कार’ शीर्षक नवीन पंत के इस कथन से मैं पूर्णतः सहमत हूँ कि ‘खजुराहो के मंदिर मध्य भारत में विकसित मंदिर शैली के प्रतिनिधि हैं।’ इस लेख को पढ़ते समय अचानक स्व. रामकृष्ण दास की भारतीय मूर्ति कला और भारतीय चित्रकला नामक पुस्तकें मेरे मानस पट पर नाच उठी हैं। मानव इच्छाओं की निरर्थकता को तो ये मूर्तियां प्रकट करती हैं साथ ही साथ यह भी ध्वनित करती हैं कि भोग ही हेय नहीं है। हाँ, वह मर्यादित होना चाहिए। ‘तेहिने दिवसागताः’ वाले वय में भी मुझे यह अंक खजुराहो देखने को उद्बलित, उन्मथित, चंचल कर रहा है। यह आजकल के इस खजुराहो विशेषांक की सफलता, सार्थकता की द्योतक है।

—शीलभद्र ‘साहित्यरत्न’, पतोर
(बिहार)

सांस्कृतिक मूल्य

● खजुराहो पर केंद्रित विशेषांक देखकर आपके सांस्कृतिक मूल्यों के प्रति श्रद्धा का आभास होता है। खजुराहो पर अधिकाधिक सामग्री प्रकाशित करने हेतु बधाई। रामस्वरूप पल्लव, दीपक कुमार सिन्हा, नवीन पंत द्वारा संकलित सामग्री खजुराहो के विषय में संपूर्ण जानकारी देने हेतु पर्याप्त है।

युगल की कहानी ‘समय शेष’ भी सामाजिक व्यवस्था का हू-ब-हू चित्रण करती प्रतीत होती है।

इस अंक की विशेष उपलब्धि में ब्रजेश भट्ट के चार गीत हैं, निश्चित ही उनके गीतों के आयाम, बिंब, शब्द संकल्पना विशेष प्रभाव डालते हैं।

—अशोक ‘गुलशन’, बहराइच

अभारी रहूंगा

● शिल्प कला की अद्भुत रमणीयता के दर्शन इस अंक में होते हैं जो आजकल को अपने क्षेत्रीयता एवं संकीर्णतावादी सोच से मुक्ति दिलाकर एक विस्तृत परिक्षेत्र प्रदान कर दिया है, जिसके लिए आजकल से जुड़े साहित्यकर्मी आपके आभारी होंगे।

कथाकार शिवप्रसाद सिंह का

साक्षात्कार एवं उनके विराट व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर प्रदीप तिवारी का मूल्यांकन अच्छा बन पड़ा है। कहानी ‘समय शेष’ में युगल जी ने मानवीय संवेदनशीलता का अद्भुत समन्वय किया है जिसकी आज के समय में सख्त जरूरत है। अनिल त्रिपाठी, राजेंद्र भंडारी की कुछ कविताएं एवं ‘गीत पलिका’ का मूल्यांकन भी उल्लेखनीय हैं। मेरी हार्दिक बधाई।

—रमेश पांडेय, प्रतापगढ़

साहित्यिक लेख छापें

खजुराहो पर केंद्रित अंक हजार वर्षों की शिल्प यात्रा को समझने में सहायक है। स्थापत्य और मूर्तियों के लिए विचार विख्यात खजुराहो से संबंधित यह लेख संग्रहणीय है। युगल की कहानी ‘समय शेष’ मानव मन पर अपना प्रभाव छोड़ जाती है। दशरथ और सुमित्रा के माध्यम से कहानीकार ने विघटित मूल्यों के संदर्भ में आत्म परितोष के एक माध्यम की तलाश करनी चाही है। अकेलेपन की वृद्ध सांझों में संवेदित मन की अनुभूति कितनी सुखदायक होती है। युगल जी को भविष्य के लिए शुभकामनाएं नरेशचंद ‘पुष्प’ की कविताएं जीवन के यथार्थ सत्य को उकेरती हैं। ‘हाशिए पर खड़ी औरतें’ और ‘अपने मूल्यों से अनभिज्ञ’ ‘कुछ लड़कियां’ पुष्प जी के सान्निध्य

को संदिग्ध बना दिया है। इसलिए भगवान के मंदिर पर भोग-रत मूर्तियों का निर्माण क्यों किया गया, इसका स्पष्ट उत्तर नहीं मिल सका।

हां! शिवप्रसाद सिंह पर, प्रदीप तिवारी के आलेख शिवप्रसाद सिंह के बारे में संक्षिप्त मगर पर्याप्त जानकारी देता है और कुमार विजय को दिया गया उनका साक्षात्कार उनकी रचना-प्रक्रिया को स्पष्टता से

उजागर करता है। युगल जी की कहानी 'समय शेष' गहरे छूती है। इसमें दो परिवारों में वृद्धों की अलग-अलग स्थितियों का तुलनात्मक अध्ययन किया गया है। यह नई पीढ़ी के यथार्थ-वर्णन के साथ-साथ उसके लिए आदर्श भी स्थापित करती है। कविताएं अच्छी हैं। शमशीर संभली की गज़लें भी, खासकर पहली दोनों गज़लें।

—सरोज कुमार वर्मा,
मुजफ्फरपुर

श्रद्धा—सुमन

● 'खजुराहो' पर एक संपूर्ण सामग्री देकर आपने इस महान शिल्प को हजारवें वर्ष में अपने श्रद्धा के पुष्प समर्पित किए हैं। शिवप्रसाद सिंह पर विशेष सामग्री से अंक में भारीपन आया है। कहानियों का पक्ष कमजोर है। कृपया हर अंक में एक अच्छी कहानी अवश्य प्रकाशित करें। साहित्यिक व सांस्कृतिक-गतिविधि एवं

पुरस्कार/सम्मान की सूचना भी अगर आजकल में देने लगे तो यह पूर्णरूप से एक संपूर्ण पत्रिका सिद्ध होगी।

—विजय पंडित, उन्नाव

शिल्प समीक्षा

● 'खजुराहो' विशेषांक देखकर हार्दिक प्रसन्नता हुई। खजुराहो सहस्राब्दी के अवसर पर आपने यह आजकल का विशेषांक निकालकर भारतीय

आजकल का अब आप 2 व 3 वर्ष का चंदा भी एक साथ जमा कर सकते हैं

मैं आपकी पत्रिका *----- का ☐ एक वर्ष (रु. 70)

☐ दो वर्ष (रु. 135) ☐ तीन वर्ष (रु. 190) का ग्राहक बनना चाहता हूं.**

चंदे का रु. ----- डी.डी./भारतीय पोस्टल आर्डर/

मनिआर्डर सं-----दिनांक-----संलग्न है।

हस्ताक्षर -----

नाम :-----

पता : -----

पिन :

* पत्रिका का नाम

** कृपया जितने वर्ष का चंदा जमा करना चाहें उस पर निशान लगा दें। और यह फार्म भरकर : विज्ञापन एवं प्रसार व्यवस्थापक, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, ईस्ट ब्लॉक 4, लेवल-7, रामकृष्णपुरम, नई दिल्ली-110066 के नाम भेजें। टेलीफोन : (011) 6105590

● दिल्ली से प्रकाशित हमारी अन्य पत्रिकाएं हैं : बाल भारती, आजकल (उर्दू), कुरुक्षेत्र (हिंदी व अंग्रेजी), योजना (हिंदी, अंग्रेजी, उर्दू, पंजाबी व उडिया)। बाल भारती को छोड़कर अन्य पत्रिकाओं की चंदे की दरें:

एक वर्ष : रु. 70.00, दो वर्ष : रु. 135.00, तीन वर्ष : रु. 190.00

बाल भारती के चंदे की दरें :

एक वर्ष : रु. 50.00, दो वर्ष : रु. 90.00, तीन वर्ष : रु. 135.00

● कृपया अपना चंदा डी.डी./ पोस्टल आर्डर/ मनिआर्डर निदेशक, प्रकाशन विभाग, के नाम बनाएं।

● पत्रिका भेजने में, चंदा प्राप्त होने के बाद, आठ से दस सप्ताह का समय लगता है। कृपया इतने समय प्रतीक्षा करें।

● किसी भी जानकारी के लिए लिखें : विज्ञापन एवं प्रसार व्यवस्थापक, प्रकाशन विभाग, ईस्ट ब्लॉक 4, लेवल-7, रामकृष्णपुरम, नई दिल्ली-110066



खजुराहो

● जुलाई अंक में खजुराहो के हजार वर्ष की शिल्प-यात्रा पर प्रकाशित आलेख जानकारीप्रद एवं संग्रहणीय है। चंदेल राजाओं द्वारा बनवाए गए खजुराहो के मंदिर वस्तुतः इतिहास का एक अद्वितीय एवं अभिनव देन है। यहां का मूर्तिशिल्प कलात्मकता के दृष्टिकोण से बेहद प्रभावपूर्ण है। यही वजह है कि मध्यकालीन युग से ही विश्व भर के अनेकानेक कलाकारों, शिल्पियों, बुद्धिजीवियों तथा पर्यटकों के आकर्षण का केंद्र रहा है, खजुराहो। मुख्य पृष्ठ पर छपे खजुराहो के चित्र भी प्रभावित करते हैं। अन्य तस्वीरें भी अच्छी हैं। कथाकार-उपन्यासकार शिवप्रसाद सिंह के व्यक्तित्व-कृतित्व को रेखांकित करने हेतु धन्यवाद। उनसे लिया गया प्रदीप तिवारी का साक्षात्कार भी पठनीय है। श्री सिंह का रचना संसार इतना व्यापक है कि उन पर पत्रिका का एक पूरा-का-पूरा अंक केंद्रित

करके निकाला जा सकता था। अंक की कविताएं, कहानियां व गुज़लें पसंद आईं। व्यंग्य अच्छा है।

—संजय सिन्हा, आसनसोल

रहस्य

● खजुराहो की मूर्तियों की विषय-वस्तु और रूपांकन की विवेचना भी रामस्वरूप 'पल्लव' जी ने की, लेकिन यदि चिंतन किया जाए तो खजुराहो के मंदिरों का निर्माण रहस्यमय है। 'पल्लव' जी ने तो सिर्फ यह बताया कि खजुराहो नाम कैसे पड़ा, किन शासकों ने निर्माण किया, किन-किन के कितने मंदिर हैं। दीपक कुमार सिन्हा द्वारा भी कुछ-कुछ ऐसा ही, कैसी मूर्तियां हैं किस आव-भाव में हैं और लिख दिया कि गति के स्पंदन का अनुभव तथा जीवन की स्फूर्ति के आभास के लिए बनाई गई हैं। कृपया इसे आलोचना न समझे क्योंकि हर पर्यटक की राय अलग-अलग होती है, अपना नजरिया होता है। नवीन पंत जी ने भी कहा है, क्या है— यही सब लिखा यह तो कोई बात नहीं हुई। मुझे नहीं लगता कि खजुराहो की मूर्तियां मात्र सेक्स या आकर्षण के लिए निर्माताओं ने बनाई हैं। हम भारतीय, कलाकार तो बेशक रहे लेकिन अच्छे कला पारखी कभी नहीं बन सके क्योंकि हम और हमारी मानसिकता अतृप्त रही है। दृष्टि और दृष्टिकोण का फर्क नहीं

कर सके महोदय। विदेशी सेक्सी मूर्तियों को या कलात्मकता देखने भारत नहीं आते हैं। सेक्स से वे उब चुके हैं। विदेशी तो साधना करने खजुराहो आते हैं। मूर्तियां यदि गौर से देखें तो काम जागृत नहीं करती और न हीं शिल्पियों का यह उद्देश्य रहा, यह तो काम से व्यक्ति को दूर करने के लिए बनाई गई है। वे मूर्तियां रहस्यमयी हैं। वो आर्ट है। जो सिर्फ 'काम' से ऊब चुके व्यक्तियों के लिए है। अतृप्त लोग आकर्षण तलाशते हैं। यदि दिल से कोई विवेचना करने जाए तो पाएगा सचमुच कितना महान उद्देश्य था, बस वो नजर नहीं आता है। आखिर मंदिर और महल में फर्क समझना चाहिए। अफसोस कि विदेशी तो 'रोगमुक्त' हो जाते हैं, हम भारतीय जकड़ जाते हैं क्यों?

—प्रदीप कुमार मटैरिया 'राजू',
जबलपुर

अस्पष्ट तथ्य

● खजुराहो की हजार वर्षीय शिल्प-यात्रा का विवेचन महत्वपूर्ण और रोचक लगा। बेजान पत्थरों पर उकेरी गई ये रूपाकृतियां जहां एक ओर पूरे विश्व को मानवीय प्रेम और आध्यात्मिक श्रेष्ठता का पाठ पढ़ाती हैं, वहीं अपनी कलात्मक शिखरोत्कर्षता का याक्षुष दस्तावेज भी प्रस्तुत करती हैं। किंतु जब मैं यह लेख पढ़ रहा था, मेरे एक

मित्र आलिंगनबद्ध मिथुनरत आकृतियों को बड़ी तल्लीनता से देख रहे थे। उनका प्रश्न था कि ईश्वरीय प्रेम की अभिव्यक्ति करती आकृतियों का उद्देश्य तो स्पष्ट है, किंतु मंदिर की भित्तियों पर कामासक्त प्रतिमाओं का क्या प्रयोजन? लेखक की ओर से मैंने मित्र को समझाने का प्रयास किया कि ये आकृतियां जीवन की समग्रता को रूप शिल्प के माध्यम से व्याख्यायित करने के उद्देश्य से उकेरी गई हैं। फिर मंय मकार का सेवन, रतिचक्र जैसे महोत्सव का मनाया जाना आदि का उद्धरण दे कर भी मैं उन्हें संतुष्ट नहीं कर सका। शायद मैं भी संतुष्ट नहीं हूं। स्वयं लेखक भी स्पष्ट नहीं हैं।

—उदयशंकर सिंह 'उदय',
मुजफ्फरपुर

उत्तर नहीं मिला

● खजुराहो पर केंद्रित अंक है, यद्यपि खजुराहो पर सवा तीन लेख हैं, परंतु सभी में सिर्फ खजुराहो के शिल्प और मंदिरों के प्रकार की चर्चा के साथ-साथ उनके निर्माण-काल और निर्माण-कर्त्ताओं की चर्चा की गई है, मंदिरों के बाहर मिथुन प्रतिमाओं के चित्रित करने के दर्शन पर कोई प्रकाश नहीं डाला गया है। यद्यपि नवीन पंत ने अपने आलेख में इस दर्शन के संबंध में थोड़ी चर्चा की है, परंतु उन्होंने भी 'संभव' शब्द का प्रयोग करके इसकी सुनिश्चितता

लेख

6. वर्तमान का संकट और भविष्य की आशंका

ध्वंस का युग है यह, जिसमें हम जी रहे हैं। हमारे समस्त प्रतिमान धराशायी हैं। नैतिकता के हमारे समस्त मानदंड ध्वस्त हो चुके हैं। ऐसे समय में हमारे हाथ में शेष है मात्र संशय ! आज समस्त विश्व के विचारगत धरातल पर जो सिद्धांत, जो दृष्टि, जो वाद, जो विचारधारा, अपना परचम गाड़े खड़ी है उसका नाम है 'विखंडनवाद'। साहित्य में उत्तर आधुनिकता के नाम से उभरे इस नए दर्शन पर **नीलिमा सिन्हा**

9. रचना के बहाने

साहित्य की किसी भी विधा में काम करने वाला रचनाकार केवल शाब्दिक अभिव्यक्ति तक सीमित नहीं रह सकता। उसकी संवेदना व्यक्तिगत राग-द्वेष से हटकर मानव नियति को रेखांकित करने का दायित्व वहन करती है। एक ओर वह मानव नियति का विश्लेषक और व्याख्याकार है तो दूसरी ओर साधारण जन में से स्वयं एक भुक्तभोगी। लेखक के सरोकारों और संवेदनाओं पर विचार कर रहे हैं **से.रा. यात्री**

20. पत्रकारिता का सच और उपन्यास

उपन्यास अपने समय और समाज का प्रामाणिक चित्र होता है। पत्रकारिता को केंद्र में रखकर लिखे गए उपन्यास समय के साथ आए परिवर्तनों के सापेक्ष चलते दिखते हैं, अतीत और वर्तमान के मध्य के समयांतराल के मध्य उपजे मूल्य-परिवर्तन, आस्था और विश्वास के बदलते स्वरूप और पत्रकारिता जगत की तमाम विद्रूपताओं को उभारकर सामने लाने के साथ-साथ इस पेशे की मजबूरियों, नैतिक-अनैतिक पक्ष, रुपहले और दंभी रूप के साथ इसकी कमजोरियों को भी हमारे सामने रखते हैं। ऐसे कुछ उपन्यासों पर चर्चा कर रही हैं **कविता**

31. भारतीय संगीत का जीवन दर्शन

भारतीय संगीत के विविध राग विविध मनोदशाओं के द्योतक हैं। जिस राग से जैसा भाव उत्पन्न होता है वैसे ही रस का संचार व्यक्ति में होता है। प्रत्येक राग के गायन का सन्ध्या यहाँ निर्धारित किया गया है तथा निर्देश भी यही है कि राग के समय का ध्यान करके ही रागों को प्रस्तुत किया जाए। भारतीय संगीत के जीवन दर्शन तथा समाज में उसकी भूमिका के बारे में बता रहे हैं **शैल कुमारी** तथा **अश्विनी कुमार सिंह**

34. कहा तकल्लुफ जानै

सत्यनारायण 'कविरत्न' एम. एस. वाक् सिद्ध कवि थे जिन्होंने आग्रहपूर्वक ब्रजभाषा को ही अपनी काव्यात्मक अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया। उन्नीसवीं शताब्दी के अंत में हुए ब्रज भाषा के इस सशक्त कवि के व्यक्तित्व और कृतित्व का परिचय प्रस्तुत कर रहे हैं **देवेंद्र शर्मा 'इंद'**

साक्षात्कार

18. जीवन में समग्रता

किसी बड़े साहित्य की पेरणा होती है !

कवि-चित्रकार जगदीश गुप्त से **धनंजय चोपड़ा** की बातचीत

कहानी

11. नानी उदास है !

द्रोणवीर कोहली

28. जड़ों वाला आदमी

सुमतींद्र नाडिम (कन्नड़)

कविताएं

17. तीन कविताएं

कुसुम भट्ट

23. तीन कविताएं

कुंदन कुमार 'लक्की'

24. कुछ कविताएं

एवा टोट (हंगरी)

26. दो कविताएं

श्रीरंग

27. चार कविताएं

शरद कोकास

पुस्तक चर्चा

40. तपस्या की तपन का दस्तावेज

चित्रा मुद्गल के नए उपन्यास **आवां पर माजदा असद**

स्तंभ

2. पत्र

44. समीक्षा

वर्ष : 56; अंक : 8; पूर्णांक : 662;
दिसंबर 1999, अग्रहायण-पौष 1921

संपादक

सुभाष सेतिया

सहायक संपादक

योर्गेन्द्र दत्त शर्मा

आवरण : **प्रविर सेनगुप्त**

सज्जा : **अलका नैयर**

संपादकीय पत्र व्यवहार :

संपादक **आजकल** प्रकाशन विभाग,
पटियाला हाउस, नई दिल्ली-110001,
दूरभाष : 3387876, फैक्स : 3387876
E-Mail : Indiapub@vsnl.net.in

संयुक्त निदेशक (उत्पादन) : **डी.एन. गांधी**

चंदे की दरें :

एक प्रति : 7 रुपये; वार्षिक : 70 रुपये;
दो वर्ष : 135.00; तीन वर्ष : 190 रुपये

चंदे संबंधी पृष्ठताछ :

के.एस. जगन्नाथ राव

विज्ञापन व प्रसार व्यवस्थापक

पूर्वी ब्लॉक-4, लेवल-7, रामकृष्णपुरम,
नई दिल्ली-110066 दूरभाष : 6105590

हमारे विद्यार्थी केंद्र

(यहां वार्षिक चंदा जमा कर सकते हैं।)

नई दिल्ली : बुक गैलरी, पटियाला हाउस;

दूरभाष : 3387983

सुपर बाजार कनाट प्लेस,

दूरभाष : 3313308

दिल्ली : बुक शाप, पुराना सचिवालय;

दूरभाष : 3968906

लखनऊ : 27/6, राममोहन राय मार्ग;

दूरभाष : 208004

कलकत्ता : 8, एस्टेनड ईस्ट;

दूरभाष : 2488030

पटना : बिहार राज्य सहकारिता बैंक

बिल्डिंग, अशोक राजपथ;

दूरभाष : 653823

मुंबई : कामर्स हाउस, करीम भाई रोड,

बालार्ड पार्क; दूरभाष : 2610081

तिरुअनंतपुरम; गर्बमेंट प्रेस के निकट;

दूरभाष : 330650

हैदराबाद : राज्य पुरातत्व संग्रहालय बिल्डिंग,

पब्लिक गार्डन; दूरभाष : 236393

चेन्नई : राजाजी भवन, बेंसेंट नगर; दूरभाष

: 4917673

बंगलौर : एफ विंग, केंद्रीय सदन, कोरामंगला

दूरभाष : 5537244

भी उसे सब करने के लिए मजबूर किया जाता है जिसे करने के लिए वह कभी तैयार नहीं थी। निरंतर उसका मोहभंग होता है। जिसको वह 'पारसा' समझती है वही अगले क्षण उसे शैतान नजर आता है। इस उपन्यास की महिला पात्र संघर्षशील हैं, निरंतर अपनी लड़ाई लड़ती हैं, लेकिन व्यवस्था उन्हें सफल नहीं होने देती और वे हारकर भी हार नहीं मानतीं। अपनी आंख से देखने का और अपना अनुभव का बड़ा महत्वपूर्ण होता है। 'दूसरे की नजर से देखी हुई दुनिया अपना सच नहीं होती और न अपना अनुभव। अपने अनुभव के बिना कोई परिष्करण संभव है? सौंपे हुए सच को हम तब तक अक्सर सिक्के की भांति उछालते रहने हैं जब तक हमारा चित हमारी मुट्ठी में नहीं होता। अनुभव जन्मता आपके अंगूठे का सिक्का हाने से आपको बेदखल कर देती है।

इस उपन्यास में उठाए गए सवाल अपने आप में बहुत महत्वपूर्ण हैं। प्रेम का चक्कर, औरत की स्थिति, शोषण और संस्थाओं में होने वाली दुर्दशा, महिलाओं का शोषण, बेगार, संस्थाओं की राजनीति, महिलाओं का हित करने वाले किस प्रकार उनका शोषण करते हैं और लाभ उठाकर स्वयं नेता बन जाते हैं। लेखिका ने गहरे अनुभव और सूझ-बूझ के साथ शोधपरक ढंग से तथ्यों को प्रस्तुत किया है। लगता है कि बड़ी गहराई से उन्होंने इन सब

परिस्थितियों का अध्ययन-मनन ही नहीं किया, इन्हें अपनी आंखों से देखा है। बहुत से गंभीर मसले उन्होंने पाठक के सामने रखे हैं और यह बताने का सफल प्रयास किया है कि जीवन कोई सरल खेल नहीं है। कुछ पाने के लिए कुछ बनने के लिए, जिस तरह सोने को तपना पड़ता है, मिट्टी के बर्तनों को आवे में पकना होता है तब कहीं जाकर वे बर्तन सामने आते हैं। यह *आवां* प्रतीक लगता है जीवन की चंचल समस्याओं का, उनमें जुझते हुए लोगों का जीवन की कठिनाइयों को झेलते परिस्थितियों से लड़ते हुए भी कुछ बनने और पाने का।

उपन्यास के माध्यम से पूरी संस्कृति को प्रस्तुत किया गया है। यह संस्कृति इतनी यथार्थ ढंग से दिखाई गई है कि पाठक यह सोचने पर विवश हो जाता है कि इक्कीसवीं शताब्दी में हमारी मानसिकता क्या होगी। क्या हममें परिवर्तन आएगा या हम इसी तरह शोषण के चक्र में पिसते रहेंगे? लेखिका का चिंतन वास्तव में महत्वपूर्ण है। उपन्यास का आकार बड़ा है लेकिन पूरा उपन्यास पढ़ने के बाद यह कहा जा सकता है कि इतनी गहन समस्याओं को छोटे से कलेवर में समेटना संभव नहीं था। सबसे अहम बात यह है कि इस उपन्यास को पढ़ते हुए पाठक की जिज्ञासा निरंतर बनी रहती है। कौतूहल बढ़ता है और रोचकता उपन्यास को और महत्वपूर्ण बना देती है। □

प्राप्ति सूचना

बाईसवीं सदी का विश्वविद्यालय (व्यंग्य संग्रह) : कमलेश पांडे; नमन प्रकाशन, नई दिल्ली; मूल्य : 100 रुपये।

शेष अवशेष (उपन्यास) : जितेन ठाकुर; सुनील साहित्य सदन; दिल्ली; मूल्य : 150 रुपये;

चंदन के फूल : (गज़ल संग्रह) : रामबहादुर चौधरी 'चंदन'; मीनाक्षी प्रकाशन; नई दिल्ली; मूल्य : 65 रुपये।

आदमीनामा सतसई (दोहा संग्रह) : डा. योगेंद्र बख्शी; प्रवेश प्रकाशन, पटियाला; मूल्य : 100 रुपये।

यहीं कहीं नौद थी (संस्मरण) : सत्य नारायण; रचना प्रकाशन; जयपुर, राजस्थान; मूल्य : 70 रुपये।

संस्कृति का गद्य (निबंध संग्रह) : बद्रीनारायण; नेशनल पब्लिशिंग हाउस; नई दिल्ली; मूल्य : 60 रुपये।

बिना शीर्षक (काव्य संग्रह) : आरिफ़ परवेज़, प्रशा प्रिंटर्स; बिलासपुर, म.प्र.; मूल्य : 48 रुपये।

पथरायी आंखों में; (काव्य संग्रह) : जनार्दन मिश्र; भावना प्रकाशन; दिल्ली; मूल्य : 80 रुपये।

सुरेखा पर्व (उपन्यास) : वीरेंद्र जैन; यात्री प्रकाशन; दिल्ली; मूल्य : 50 रुपये।

अठारह दिन के बाद (उपन्यास) : सविता चड्ढा; नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली; मूल्य : 150 रुपये।

बाबा फरीद अब नहीं आते (कहानी संग्रह) : सुश्री शरद सिंह; सामयिक प्रकाशन; नई दिल्ली; मूल्य : 125 रुपये।

शब्दों का खाकरोब (कहानी संग्रह) : राजू शर्मा; राधाकृष्ण प्रकाशन; नई दिल्ली; मूल्य : 80 रुपये।

आइने के सामने (गज़ल संग्रह) : अशोक आलोक; जिज्ञासा प्रकाशन; पटना; मूल्य : 60 रुपये।

चोर भये कोतवाल (व्यंग्य संग्रह) : श्रीनिवास वत्स; नेशनल पब्लिशिंग हाउस; नई दिल्ली; मूल्य : 100 रुपये।

आखिर क्यों? (कहानी संग्रह) : कमला रानी सांघी, एजीए पब्लिकेशंस, हैदराबाद; मूल्य : 50 रुपये।

सफलता के सात आध्यात्मिक नियम : दीपक चोपड़ा; फूल सर्कल; दिल्ली; (अनुवाद : विश्वप्रकाश दीक्षित 'बटुक'); दिल्ली, मूल्य : 75 रुपये।

योगी गुरु (योग शिक्षा) : दिल्ली सारस्वत संघ; नई दिल्ली; मूल्य : 50 रुपये।

गांव का जीवन यथार्थ

पाथर टीला : रूपसिंह चंदेल; सामयिक प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली-2;
पृष्ठ संख्या : 304; मूल्य : 250 रुपये।

आजादी के बाद गांवों के विकास कार्यों की दोमुंही नीतियों ने गांव-समाज को उस चौराहे पर ला खड़ा कर दिया है, जहां से यह तय कर पाना लगभग असंभव-सा प्रतीत होता है कि भविष्य में इन गांवों की वास्तविक तस्वीर क्या होगी? गांव, शहर की ओर पलायन कर रहे हैं और शहर गांव की मनोभूमि पर हावी होता जा रहा है। इस कारण गांव के पारस्परिक ढांचे में आए सामाजिक परिवर्तन को जहां व्यक्ति और समाज के सोच का आइना होना चाहिए, वहीं वह समाज के गुमराह होने की दिशा की ओर संकेत करता है। राजनीति के नाम पर गांवों में जाति व वर्ण-व्यवस्था के खतरे गहराते जा रहे हैं, वहीं धर्म नाम की वस्तु इंसान को विभाजित करने में लगी है। आपसी स्नेह, प्रेम और सौहार्द की सीमाएं सिकुड़ती जा रही हैं। पूंजी के विकसित नवतंत्र ने नए भूपतियों, सामंतों और नव धनाढ्यों के हाथों में तलवार, तमंचा और लाठी की ताकत फिर से सौंप दी है। गांव का जीवन एक बार फिर खतरनाक मोड़ पर है। क्या यही है हमारे सपनों का गांव? क्या यही है हमारे गांव का जीवन-यथार्थ? यदि सचमुच में, तो *रमला बहू* के बाद रूपसिंह चंदेल के नवीनतम उपन्यास *पाथर टीला* को यह यथार्थ प्रश्रय और संबल ही नहीं देता बल्कि उसे जीवंत भी बनाता है। क्योंकि *पाथर टीला* में गांव का यथार्थ पूरी भयावहता के साथ मौजूद है।

पाथर टीला की कथा भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के विस्मृत इतिहास के कुछ अलक्षित पृष्ठों को अपने दामन में समेटते हुए चलती है। गांव के बुजुर्ग गोथन माली अपनी याददाश्त को ताजा करते हुए बताता है कि कभी संचेड़ी के राजा हिंदू सिंह लाव-लशकर के साथ 'पाथर टीला' में रुके थे।

अठारह सौ सत्तावन में बिदूर राजा की सेना के सूबेदार टीका सिंह ने कभी अंग्रेजों के खिलाफ निर्णायक लड़ाई लड़ी थी। सूबेदार टीका सिंह के बचपन की स्मृतियां पाथर टीला के गली-कूचों से जुड़ी हैं क्योंकि यह गांव उनका ननिहाल था। गोथन माली की यादों में जैसा कि उसके बाबा ने बताया था, वह खूनी दृश्य बार-बार कौंधता है, जब फिरंगियों ने क्रांतिकारियों को पेड़ों पर लटकाकर फांसी दी थी। बाबा बरियार सिंह इसी गांव के थे। वे क्रांतिकारी थे या समाज-सुधारक— इस विषय पर गांव के लोमों की अलग-अलग राय थी। पर उनके नेक कामों की किंवदंतियां लोग-बाग आज भी दुहराते हैं। कोई रोग हो या प्रेत बाधा, बरियार बाबा की समाधि पर जाने पर सब ठीक हो जाते हैं। वे गांव के ठाकुर गजेंद्र सिंह के पूर्वज थे— इस पर सभी को संदेह है; फिर भी ठाकुर गजेंद्र सिंह अपने फायदे के लिए उनका नाम भुनाने में लग जाता है। वह बाबा बरियार के पूजा-स्थल पर हर वर्ष मेला लगवाने की मुनादी करवाता है। एक भव्य मंदिर बनवाने की कुटिल योजना बनाता है। वस ! यहीं से शुरू होती है गांव पर जुर्म और जुर्रत की कहानी।

सामंतवाद के खंडहर पर खड़ा गजेंद्र सिंह और उसके गुरगे मंदिर निर्माण के लिए गांव वालों से जबर्दस्ती चंदा वसूलते हैं। धन के लालच में जुआघर और मादक-द्रव्यों का धंधा करते हैं। पराई औरतों को डांटते हैं। वह अपनी चाल का इतना सघन जाल बिछाता है कि गांव का सरपंच हरिहर अवस्थी, नीम-हकीम गोविंद श्रीवास्तव और पुतन पांडेय जैसे लोग भी उसकी हां में हां मिलाने लगते हैं। धौंस, रौब और आतंक के बल पर गजेंद्र गांव पर एकछत्र शासन करता है। शहर से आए जुआरी युवक की हत्या गजेंद्र का कारिदा समरतन करता

है और फंसाया जाता है सीधे-साधे बलजीत सिंह को। सिड़ी की हत्या भी गजेंद्र के उकसाने पर होती है पर पुलिस कुछ नहीं करती। उल्टे गजेंद्र के कहने पर पुलिस गांव के लोगों पर झूठे इल्जाम लगाती है। पूरा गांव भयभीत और बदहवास है। गांव के लोगों को इस भय और आतंक के माहौल से निकालने का काम करता है बलजीत सिंह का पढ़ा-लिखा पुत्र अजय। अजय का साथ देते हैं उसके साथी युवक देवू, कुन्नु, सुधीर और रामप्यार। हरिहर अवस्थी भी दर-संबर चेत जाते हैं और वह ठाकुर बलजीत सिंह के साथ मिलकर हिंदू-मुस्लिम के दंगे में धधकते गांव को बाहर निकालने का काम करते हैं।

विद्रोह धीरे-धीरे पनपता है। पहले तो घर में ही पितृविहीना भतीजी कमली गजेंद्र का हुक्म मानने से इंकार कर देती है। फिर पूरी मजदूरी न मिलने पर दलित मजदूर उसके खेतों में काम करना बंद कर देते हैं। उसके कांदि हुक्म-उदूली पर उतर आते हैं। एक दिन ऐसा भी आता है जब गजेंद्र सिंह की छाया उसके साथ चलने से इंकार कर देती है।

सामंती दंभ और राजपूती वर्चस्व को चूर-चूर होते देख गजेंद्र सिंह अंततः मानसिक रूप से विक्षिप्त हो जाता है। पर पाथर टीला की कहानी यहीं खत्म नहीं हो जाती। अजय और कमली की समानांतर प्रेम-कथा बेशक किसी खास मुकाम पर न पहुंच पाती हां पर इस वहां उपन्यास में उभरी आंचलिक संस्कृति और सभ्यता उपन्यास का रोचक और पठनीय बनाने में मदद अवश्य करती है। सामंती मानसिकता के विरुद्ध मजदूरों का गोलबंद होना, गांव के मुसलमानों और हिंदुओं के बीच भाईचारे की भावना का प्रबल हो जाना, कमली और अनीता जैसी पढ़ी-लिखी लड़कियों का गरीब बच्चों को शिक्षित करने का संकल्प लेना आदि ऐसी घटनाएं हैं जो ग्रामीण चेतना की निष्कंप लहरों में भारी उथल-पुथल पैदा करती हैं।

पाथर टीला का यथार्थ गत्यात्मक है। उसकी गत्यात्मकता उपन्यास के स्थूल उपकरणों व पात्रों में नहीं— उस अंतरचेतना में है जो गांव के व्यापक सामाजिक सरोकारों को अपनी पैनी नजर में देखती है।

पाथर टीला उपन्यास गांव के जाति, धर्म, संप्रदाय, आर्थिक विषमता, सामंतवादी सांच, अशिक्षा और गरीबी की गहरी छानबीन करते हुए उसकी शक्तिशाली व्यूह रचना में अवगत कराता है ताकि एक बेहतर समाज की संरचना में आड़े

आने वाले 'कारणों' से निबटा जा सके।

बहरहाल रूपसिंह चंदेल ने देशज कलाकार की तरह आधुनिक गांव की सभ्यता, संस्कृति, यातना, उत्पीड़न, स्वप्न और संघर्ष के विविध रंगों

से प्रवाहमंडित आख्यान प्रस्तुत करने का सार्थक उपक्रम किया है। इस दृष्टि में *यातना टीला* की उपलब्धि रेखांकित करने योग्य है। और भविष्य में भी इस पर विचार करने की गुंजाइश बनी रहेगी।

—हीरालाल नागर

इतिहास

मार्मिक दस्तावेज

यातना शिविर में : हिमांशु जांशी; राजपाल एंड संस, दिल्ली;
पृष्ठ संख्या : 144; मूल्य : 125 रुपये।

रचनात्मक दृष्टि वर्तमान को ही नहीं अतीत को भी एक ऐसे ढंग से व्यक्त करती है कि कई विधाओं का सम्मिश्रण हो जाता है। हिमांशु जांशी ने *यातना शिविर* में अंडमान की अनकही कहानी को इस प्रकार कहा है कि स्वतंत्रता-संग्राम का एक स्वर्णिम अध्याय जीता जागता हमारे सामने आ जाता है। *यातना शिविर* इतिहास न होते हुए भी इतिहास है, उपन्यास न होते हुए भी उपन्यास है। कविता न होते हुए भी कविता है। ऐसा प्रामाणिक रचनात्मक गद्य लिखना साधारण लेखक के बस की बात नहीं है। हिमांशु जांशी की संवेदनशीलता, शोधपरकता तथा विभिन्न गद्य विधाओं में गतिशीलता ने इस पुस्तक को एक उपलब्धि बना दिया है।

ऐसा नहीं है कि अंडमान की सैल्युलर जेल के संवेध में अन्य पुस्तकें न लिखी गई हों। लेकिन *यातना शिविर* की विशेषता यह है कि वह हमें संवेदना के स्तर पर उस युग के स्वतंत्रता सेनानियों तथा उनके भाव जगत में जोड़ती है। इतिहास लिखना सरल है क्योंकि उसमें केवल तथ्यों का संकलन और उनकी व्याख्या ही होती है लेकिन इतिहास को इस तरह सजीव कर देना कि वह हमें आंदोलित करे, एक कठिन कार्य है। हिमांशु जांशी ने इस चुनौती को न केवल स्वीकार किया है बल्कि उससे साकार भी किया है। अन्य तथ्यों की प्रामाणिकता के प्रति बहुत सचेत दिखाई देता है। सैल्युलर जेल का इतिहास और उसके चरण ऐतिहासिक जानकारी के साथ सामने आते हैं।

हिमांशु जांशी ने वैसे तो सभी शहीदों के व्यक्तित्व और मनोभावों का सशक्त ढंग से व्यक्त किया है लेकिन कुछ के संघर्ष और उनके मनोभाव मन पर अंकित हो जाते हैं। नानी गोपाल, शचींद्रनाथ सान्याल किस प्रकार अमानवीय यंत्रणा झेलते हुए कभी विचलित न हुए और रवींद्र घोष ने किस प्रकार अमानवीय परिस्थितियों में भी देश प्रेम की ज्वाला को जलाए रखा, प्रमुख दृष्टांत है। क्रांतिकारियों के हौसले कितने बुलंद थे यह पं. परमानंद के एक प्रसंग में सामने आता है :

‘परमानंद जैसे ही बारी के सामने पहुंचा कि बारी ने उसे सीधा खड़े होने के लिए कहा। इसके बाद बारी के मुंह से अपमानजनक शब्द निकले ही थे कि परमानंद का चेहरा क्रोध से तममता उठा। बारी ने जैसे ही गंदी-गंदी गालियां शुरू कीं, युवक ने दोनों वार्डों के हाथों से अपने को मुक्त किया और बिजली की-सी फुर्ती के साथ झपटकर बारी के गालों में दो तमाचे जड़ दिए। बारी इस हमले से सकपका गया। उसका टोप जमीन पर जा गिरा ...। इस पर जेल के कर्मचारी परमानंद पर दूट पड़े। उसके होठों से रक्त बहने लगा। थोड़ी देर में जेल में ही नहीं, सारी अंडमान की बस्ती में यह समाचार फैल गया कि ‘बम गोले वाले’ कैदी ने बारी की जमकर पिटाई कर दी है।

“इतनी बड़ी हिमाकत कोई करे। यह कैसे सहन होगा। सुपरिंटेंडेंट ने आते ही आदेश दिया कि इसे 20 बेटों की सजा दी जाए।”

“उसे नंगा कर रस्सी से कसकर बांधा गया

और फिर बेंतों की बौछार शुरू हुई। वह लहलुहान हो गया। बेंतों के प्रहार से चमड़ी उधड़ गई। मांसपेशियां छिल गई, परंतु उस युवक ने उफ तक न की।’

ज्योतिशचंद्र, अभय दास, हुलहास्कर दत्त धीरे-धीरे भट्टाचार्य, फणीदास गुप्ता आदि ऐसे क्रांतिकारियों का भी बड़ा मार्मिक चित्रण पुस्तक में हुआ है, विशेष रूप से *मानिक टेला षड्यंत्र केस* के नायक हुलहास्कर दत्त का साहम और त्याग आज भी हमारे रोंगटे खड़े कर देता है। जो स्पष्टवादिता और निर्भीकता के कारण कालापानी जेल में थे। उन्हें बेलों की तरह कोल्हू में जोता जाता था। उन्होंने अपनी डायरी में लिखा है, यदि गति में कुछ भी कमी आई नहीं कि पेटी अधिकारी का सांटा नंगी पीठ पर आ पड़ता। यदि इस प्रहार से भी कैदी सचेत न होता तो कोल्हू के डंडे से उसके हाथ-पैर बांध दिए जाते और उसे दौड़ने के लिए विवश किया जाता। यानी बंधा हुआ आदमी जमीन पर घिसटता हुआ चला जाता। जिससे सारा शरीर बुरी तरह छिल जाता, लहलुहान हो आता।

हिंदी जगत में इस पुस्तक का भरपूर स्वागत हुआ है लेकिन पर्याप्त नहीं है। आवश्यकता इस बात की है कि ऐसी पुस्तकें जन-जन तक पहुंचाने का कोई रास्ता खोजा जाए।

—असगर बजाहत

लेखकों से

□ रचना भेजने के लिए कोई शर्त नहीं है। सभी रचनाओं का हम स्वागत करते हैं।

□ रचना एक तरफ टाइप की हुई या स्पष्ट लिखी होनी चाहिए। रचना के अंत में अपना नाम व पूरा पता अवश्य लिखें।

□ यदि आप अस्वीकृत रचना वापस चाहते हैं तो कृपया अपना पता लिखा, डाक टिकट लगा लिफाफा लगाना न भूलें।

संपादक

आजकल

प्रकाशन विभाग

पटियाला हाउस, नई दिल्ली-110001

दूरभाष : 3387876

परिवर्तन की आकांक्षा

**अंतिका : संपादक : अनलकांत,
नई दिल्ली-2; मूल्य : 15 रुपये।**

हिंदी भाषी क्षेत्र में व्याप्त सांस्कृतिक शून्यता, निरक्षरता और अपसंस्कृति के लगातार प्रसार के बावजूद मैथिली साहित्य में निरंतरता का बरकरार रहना एक महत्वपूर्ण घटना है। हर दौर में एक नई पीढ़ी मैथिली साहित्य को आगे बढ़ाने के लिए सामने आती रही है। पाठकों की घोर कमी और संसाधनों के अभाव के बीच व्यक्तिगत और सामूहिक स्तर पर मैथिली में पत्रिका निकालने के प्रयास भी होते रहे हैं। मगर अधिकांश प्रयासों के पीछे पत्रकारिता की कोई सूझ-बूझ प्रायः नहीं रही। वितरण की तरफ भी कोई चिंता ही नहीं। इसी कारण वे प्रयास असफल भी हुए। इन तमाम कमियों से दूर दिल्ली से त्रैमासिक मैथिली पत्रिका *अंतिका* का प्रकाशन एक उल्लेखनीय घटना है।

मैथिली के युवा रचनाकारों- अनलकांत, सारंग कुमार और संजीव स्नेही के सम्मिलित प्रयास से प्रकाशित यह त्रैमासिक पत्रिका सामग्री के चयन और साज-सज्जा में मैथिली की अन्य पत्रिकाओं से भिन्न है। यह एक नई चेतना और एक नए तेवर को व्यक्त करती है। प्रवेशांक में ही अपने संपादकीय में अनलकांत ने स्पष्ट कर दिया है कि *अंतिका* मैथिली साहित्य में व्याप्त यथास्थितिवाद और जड़ता को तोड़ने की पक्षधर है। अनलकांत ने मैथिली के उन मठाधीश आलोचकों की भी खबर ली है जो नई प्रवृत्ति, नए स्वर को सामने आने से रोकते हैं।

अब तक *अंतिका* के तीन अंक प्रकाशित हो चुके हैं। प्रवेशांक जनकवि यात्री (नागार्जुन) पर केंद्रित है। यात्री की कुछ कालजयी कविताएं इसमें प्रकाशित हैं। यात्री पर मैथिली के सुकांत सोम और कुलानंद मिश्र के अलावा हिंदी के चर्चित कथाकार पंकज बिष्ट ने संस्मरण लिखा है। दूसरे अंक में साहित्य अकादमी पुरस्कार से सम्मानित मैथिली के चर्चित कवि-कथाकार जीवकांत का लंबा साक्षात्कार है। उससे उनका व्यक्तित्व उभरकर सामने आता है। साथ ही मैथिली कविता

की विकास यात्रा पर उनके विचार का भी पता चलता है। इसी अंक में उनकी कुछ कविताएं भी हैं।

अंतिका का स्वरूप तथाकथित 'विशुद्ध साहित्यिक' पत्रिका का नहीं है। चलंत सामाजिक आर्थिक मुद्दों पर उसमें विचारोत्तेजक लेख प्रकाशित हुए हैं। *अंतिका* के तीसरे अंक में मिथिलांचल की आर्थिक स्थिति को लेकर चर्चित पत्रकार अनिल ठाकुर का लेख विशेष रूप से उल्लेखनीय है। ठाकुर का मानना है कि मिथिलांचल में जन आंदोलन की सख्त जरूरत है।

मैथिली की समकालीन रचनाशीलता को सामने लाने की दिशा में इस पत्रिका ने उल्लेखनीय प्रयास किया है। अभी तक राजमोहन झा, रामदेव झा, जीवकांत, सुभाषचंद यादव, रा.ना. सुधाकर, साकेतानंद, अशोक, शिवशंकर श्रीनिवास, सुस्मिता पाठक, विनोद बिहारी लाल, रमेश, प्रभा झा जैसे कई महत्वपूर्ण कथाकारों की कहानियां और कीर्ति

नारायण मिश्र, कुलानंद मिश्र, अग्निपुष्प, नारायणजी, केदार कानन, कृष्णमोहन झा, रामचैतन्य धीरज जैसे कवियों की कविताएं चर्चा के केंद्र में रही हैं। इसी तरह संपादकीय, बहस, लेख, प्रकाशन-संदर्भ और समीक्षाओं ने भी लोगों का ध्यान खींचा है।

अन्य भाषाओं से जीवंत संवाद बनाए रखने को *अंतिका* सचेष्ट है। वह अनेक गैर मैथिल लेखकों को नियमित छापने पर जोर दे रही है। इस संदर्भ में पंकज बिष्ट और इरफान उल्लेखनीय हैं। विश्व की श्रेष्ठ लेखकों की अनूदित रचनाएं उसने प्रकाशित की हैं। इस क्रम में कैथरीन मैन्सफील्ड, बोर्खेस, ए.ए. अलेक्सेव और इंतजार हुसैन की कहानियां और ब्रेख्त की कविताएं उल्लेखनीय हैं।

—सुधीर कुमार झा

सहयोगी रचनाकार

नीलिमा सिन्हा : जगदंबा भवन, नगमतिया रोड, गया (बिहार)

से.रा. यात्री : एफ-ई 7, नया कवि नगर, गाजियाबाद (उ.प्र.)

द्रोणवीर कोहली : ई-163, ग्रेटर कैलाश-II, नई दिल्ली-48

कुसुम भट्ट : बी 39, नेहरू कालोनी, देहरादून (उ.प्र.)

धनंजय चोपड़ा : 527, एच-3/906-ए, कक्कड़नगर, दरियाबाद, इलाहाबाद (उ.प्र.)

कविता : द्वारा श्री आनंद, सूर्या प्रिंटर्स, 30/87 ए, गली नं. 7 विश्वास नगर, शाहदरा, दिल्ली-92

विनोद शर्मा : 195-डी, एम.आई.जी., राजौरी गार्डन, नई दिल्ली-27

श्रीरंज : 1 पोनप्पा रोड, द्रौपदी घाट, इलाहाबाद (उ.प्र.)

शरद कोकास : इनायत विला, केलाबाड़ी, दुर्ग (म.प्र.)

एस. श्याम : द्वारा चंद्रमोहन शर्मा, एस.पी. 11, भामा मार्ग, तिलक नगर, जयपुर-4

पृथ्वीराज मोंगा : 378-सी, जे. एंड के. पाकेट, दिलशाद गार्डन, दिल्ली-95

शैल कुमारी : जसरांग भवन, शंकर नगर, रमना, मुजफ्फरपुर (बिहार)

अश्विनी कुमार सिंह : संगीत विभाग, जगन्नाथ मिश्र महाविद्यालय, बी.आर.ए. बी.यू., मुजफ्फरपुर

देवेंद्र शर्मा 'डूँड' : 10/61, सैक्टर-3, राजेंद्र नगर, साहिबाबाद-201005

कुंदन कुमार लक्की : गायत्री नगर, मोतीहारी, पूर्वी चंपारण, (बिहार)

माजदा असद : सी-105, ईस्ट एंड अपार्टमेंट, दिल्ली-110096

हीरा लाल नागर : बी-3/230, सादतपुर, दिल्ली-94

असगर वजाहत : 79 कला विहार, मयूर विहार फेज-1, दिल्ली-91



सदियां आएंगी,
गुजर जाएंगी....

हम रहेंगे
सदैव
आपके
ऋणी!

राष्ट्रपिता की 130वीं जयंती
के अवसर पर कृतज्ञ राष्ट्र का
उन्हें प्रणाम।

2 अक्तूबर, 1999

डीएवीपी 99/450

आता है, लेकिन वस्तुतः वे उर्दू साहित्य की परंपरा में ही सुकून महसूस करते हैं। जबकि हिंदी गज़ल हिंदी साहित्य की परंपरा से जुड़ी है।

इन प्रकाशित गज़लों में 'वारसाओं', महलसराओं, जफाओं, रिदाओं आदि शब्दों को आम पाठक तथा, हिंदी के प्रबुद्ध पाठक भी समझने में असमर्थ होंगे। बेहतर यही होता कि आप इनके शब्दार्थ भी देते जिससे इन गज़लों को ठीक से समझा जा सके।

'संभली' की उन गज़लों का कथ्य अति आधारण और उर्दू भी घिसी-पिटी परंपरा में ही व्यक्त हुआ है। ब्रजेश भट्ट के गीत प्रभावशाली हैं। अच्छा हो गीतों को आजकल में नियमित स्थान दिया जाए।

-अशांक रावत, आगरा

कविताओं का चयन

● कविताओं के मापदंड पर काफी नीचे है, किंतु कहानियों के परिप्रेक्ष्य में इसे एक समृद्ध अंक कहा जा सकता है। युगल की कहानी 'समय शेष' वृद्धावस्था की सामाजिक, पारिवारिक और मानसिक परिस्थितियों पर बहुत नजदीक से प्रकाश डालती है। समकालीन हिंदी कहानियों में एक सफल तथा अग्रणी कहानी है।

पन्नालाल पटेल की गुजराती से अनूदित कहानी 'हमे क्या चाहिए' में अत्याधुनिक संस्कृति की अनुगामिनी नारी से त्रस्त

भारतीय युवक की दृढ़ मनःस्थिति का नाटकीय विवरण दिया गया है। इस कहानी के छोटे-छोटे संवाद, प्रसाद जी की 'आकाशदीप' का स्मरण कराते हैं। कहानीकार तो वास्तव में सक्रिय सूत्रधार भी नहीं हैं। कहानी स्वतः ही समाप्त हो जाती है।

कविताओं के चयन में पर्याप्त ध्यान नहीं दिया जा रहा है। अनिल त्रिपाठी, ब्रजेश भट्ट की कविताएं और शमशीर संभली की गज़लें पूर्ववर्ती कवियों का अनुकरण मात्र हैं। इनमें न तो विषय की नवीनता है और न ही कोई स्पष्ट संदेश है।

-आलोक कुमार श्रीवास्तव,
दलईपुर

पहले निराशाजनक फिर संतोषप्रद

● मेरे एक साहित्यिक मित्र ने आजकल का जून अंक देखा और उसने तपाक अपनी प्रतिक्रिया दी- कि क्या आजकल के संपादक बदल दिए जाने से इसकी स्तरीयता इतनी गिर गई है। उनका स्पष्ट इशारा इस अंक में छपी कविताओं की ओर था।

वास्तव में अंक की सारी कविताओं ने (पाठशाला की कविता को छोड़कर) काफी निराशा किया। इन कविताओं का पढ़कर मुझे तो ऐसा प्रतीत हुआ कि संपादक महोदय ने किन्हीं खास कारणों से इन कविताओं को आजकल जैसी साहित्यिक

पत्रिका में शामिल किया है।

अंक की सर्वश्रेष्ठ रचना सदोष हिसारी की पाठकीय प्रतिक्रिया लगी। शुक्र है, साहित्य में अभी भी ऐसे पाठक बचे हुए हैं जो साहित्य में गहरी पकड़ रखते हैं। 'मर्द होते हुए' कहानी में लेखिका ने वर्तमान समाज के एक ऐसे चिन्मौने यथार्थ को उजागर किया है जो महानगरीय जीवन के अभिजात वर्गों में बखूबी मिलता है। लेखिका को उनकी पैनी दृष्टि के लिए बधाई। एन. प्रभाकरण की कहानी 'एक अगला जन्म' मेरी खोपड़ी की ऊपर की बात बनकर रह गई।

सभी लेख काबिले-तारीफ हैं। पर मुझे आँकटोवियो पाँज पर लिखा गया लेख ज्यादा रोचक लगी। कथाकार कामतानाथ का साक्षात्कार आधुनिक साहित्य में गद्य विद्या को समझने के लिए उपयुक्त रहा। सार्थक सिनेमा के लिए सार्थक पहल पढ़कर मुझमें उम्मीद जगी कि शायद अब कलात्मक फिल्मों के कर्ता धर्ताओं की आंखें खुलेंगी।

विज्ञान के प्रचार-प्रसार में विज्ञान पत्रिकाओं ने जिस तरह की भूमिका निभाई है, उस आधार पर समय-समय पर हिंदी में विज्ञान पत्रिकाएँ जैसे लेखों का साहित्यिक पत्रिकाओं में आना लाजिमी है। अंक में पूफ की गलतियों के कारण कभी-कभी कविताओं को समझने में दिक्कतें पेश आती हैं।

अंक में सर्वप्रथम कविताओं को टटोला। सभी कविताएं संतोषप्रद रहीं। लेकिन कविताओं में प्रेम, औरत, कुछ लड़कियाँ, जुलूस ने सीखा ककहरा और गीत तथा कांटों की छतरी काफी

अच्छी लगी। इस अंक के सभी लेख आजकल की स्तरीयता को बरकरार रखती है। लेकिन खजुराहो पर लिखे गए लेख का पलड़ा सभी लेखों पर भारी पड़ता है। आशा की जानी चाहिए कि भारतीय शिल्प पर आगे भी ऐसे लेखों का प्रकाशन आजकल में होता रहेगा।

शिवप्रसाद सिंह की जीवनी और उनका साक्षात्कार दोनों उन्हें समझने के लिए पर्याप्त रहे। इस अंक की दोनों कहानियों में श्रेष्ठता की तुलना मेरे लिए असंभव-सा हो गई।

युगल जहाँ अपनी कहानी द्वारा हमारा ध्यान अपने घर के बूढ़े बुजुर्ग की ओर आकर्षित करने में सफल रहे वहीं पटेल जी ने 'हमें क्या चाहिए?' में छोटे परिवार में होने वाली नोक-झोंक को बड़े ही मार्मिक ढंग से तलाक के चौखट तक पहुँचाते-पहुँचाते प्रेम के ताजमहल में प्रवेश करा दिया। दोनों कहानियाँ कथ्य, शिल्प सभी दृष्टि से अच्छी रहीं। गज़लों ने दूरगामी असर छोड़ा।

-विश्वजीत राहा, दुमका

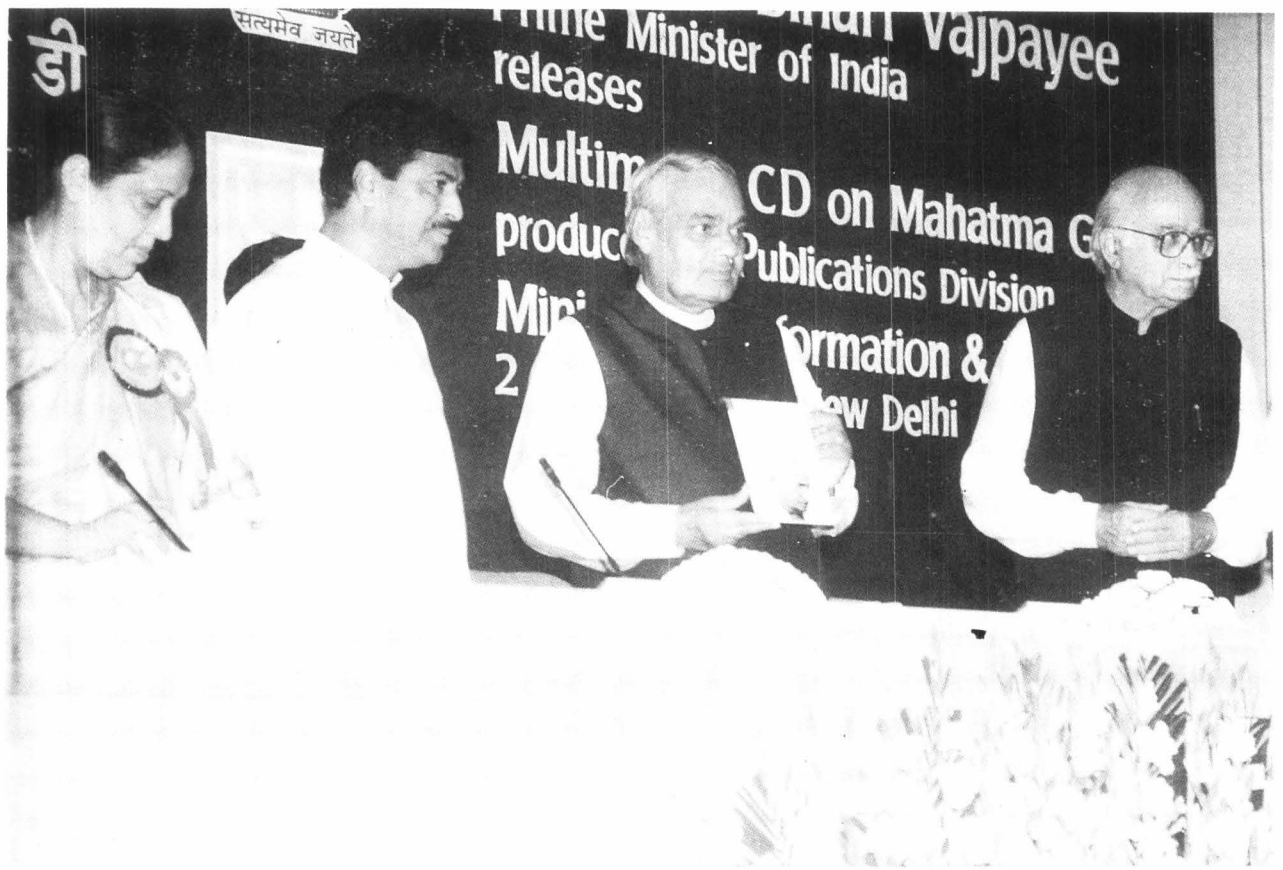
त्रुटियों पर ध्यान दें

● पत्रिका में आजकल काफी त्रुटियाँ मिल रही हैं। पत्रों से लेकर लेखों व नामों में। इस पर ध्यान दिया जाना चाहिए।

अनिल त्रिपाठी की कविताएं इस अंक की सर्वोत्तम कविताएं हैं। प्रदीप तिवारी का शिवप्रसाद सिंह पर आलेख ठीक लगा।

खजुराहो के समस्त चित्रों को प्रकाशित करें।

-अरुण शीतांश, आरा



सीडी का लोकार्पण करते हुए प्रधानमंत्री श्री अटल बिहारी वाजपेयी । चित्र में (बाएं से दाएं) प्रकाशन विभाग की निदेशक श्रीमती सुरिंद्र कौर, तत्कालीन सूचना एवं प्रसारण मंत्री श्री प्रमोद महाजन और गृहमंत्री श्री लाल कृष्ण आडवाणी ।

महात्मा गांधी पर सी.डी. का लोकार्पण

प्रधानमंत्री श्री अटल बिहारी वाजपेयी ने गांधी जयंती, 2 अक्टूबर 1999 को नई दिल्ली में महात्मा गांधी पर निर्मित मल्टीमीडिया इंटरएक्टिव सी.डी. का लोकार्पण किया। प्रकाशन विभाग द्वारा निर्मित इस सी.डी. में गांधी जी के लिखे/बोले 50,000 से अधिक शब्दों की संपूर्ण सामग्री, महात्मा जी के भाषणों के 15 मिनट के अंश और उनके जीवन से जुड़े करीब 550 दुर्लभ चित्र हैं। प्रधानमंत्री के अलावा केंद्रीय गृहमंत्री श्री लालकृष्ण आडवाणी, सूचना और प्रसारण मंत्री श्री प्रमोद महाजन, कुछ अन्य केंद्रीय मंत्री, सूचना और प्रसारण मंत्रालय के सचिव श्री योगेंद्र नाथ चतुर्वेदी, जाने-माने गांधीवादी विद्वान, स्वतंत्रता सेनानी और अनेक वरिष्ठ अधिकारी इस गरिमापूर्ण समारोह में शामिल हुए।

MAHATMA GANDHI CD



A

comprehensive
Multi-media CD

on Mahatma Gandhi.

Over 50,000 pages of Gandhiji's
writings arranged chronologically
with intensive indexing and
interactive retrieval paths.

15 minutes of Gandhiji's voice.

30 minutes of film footage.



Based on *Collected Works of Mahatma Gandhi* brought out by
Publications Division in 100 volumes.

exempted from Sales Tax in Delhi

Price: Rs.2,500/- per CD.

For business enquiries, contact our sales outlets at:

Patiala House, Tilak Marg, New Delhi, Ph.3387983; Super Bazar, Connaught Circus, New Delhi, Ph.3313308; Hall No.196, Old Secretariat, Delhi, Ph.3968906; Rajaji Bhavan, Besant Nagar, Chennai, Ph.4917673; 8, Esplanade East, Calcutta, Ph.2488030; Bihar State Cooperative Bank Building, Ashoka Rajpath, Patna, Ph.653823; Press Road, Thiruvananthapuram, Ph.330650; 27/6, Ram Mohan Rai Marg, Lucknow, Ph.208004; Commerce House, Currimbhoy Road, Ballard Pier, Mumbai, Ph.2610081; State Archaeological Museum Building, Public Gardens, Hyderabad, Ph.236393; 1st Floor, F-Wing, Kendriya Sadan, Koramangala, Bangalore, Ph.5537244; CGO Bhavan, A Wing, A.B.Road, Indore; 80, Malviya Nagar, Bhopal; B-7/B Bhawani Singh Road, Jaipur.